ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

अंक 52 ■ नई दिल्ली, मई-जून 2014

संरक्षक संपादक
प्रो.गिरीश्वर मिश्र (**कुलपति**)

संपादक
विमल झा

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005(महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)

एक अंक: ₹20

वार्षिक सदस्यता : ₹120

चेक कमीशन जोड़कर वार्षिक रु. 145 और द्वैवार्षिक रु. 265 म.गां.अं.हिं.वि, वर्धा को भेजें। मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 01, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032 (मो. 09212796256)

मुखपृष्ठ : जे. पी. त्रिपाठी

संपादकीय संपर्क : 09212796256,
E-mail: pustakvimal@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी: राजेश यादव, प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र:
प्रकाशन विभाग: महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
फोन:07125-232943

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of book Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Mahrashtra)

छपाई: रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032
email:ruchikaprinters2005@gmail.com

इस बार

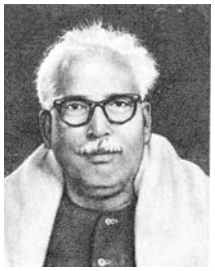

संस्कृति पर चर्चा करते हुए द्विवेदी जी बड़ी दृढ़ता के साथ यह घोषणा करते हैं कि अनेकानेक प्रवाहों के योग से निर्मित संस्कृति जिसमें हम जी रहे हैं, वह तमाम प्रभावों से अनुस्यूत है।

पारदर्शी सर्जक का सांस्कृतिक विवेक: **गिरीश्वर मिश्र** 4

उर्दू का आरंभिक युग और...: **चंदन श्रीवास्तव** 13

'कौन जीता है तेरी जुल्फ के... : **जितेंद्र श्रीवास्तव** 20

संस्कृति के नए सरोकारों को... **विनोद अनुपम** 24

गांधी के पहले और गांधी के बाद : **पुष्पेश पंत** 28

कर्मयोगी पर बुद्धियोगी के विचार : **जीतेन्द्र गुप्ता** 32

देश की तस्वीर : **प्रेमपाल शर्मा** 36

भारतीय समाज का एक सच... : **सत्यकाम** 39

रेणु का रचना संसार : **राजकुमार** 42

साहित्य लेखन पूरे जीवन की साधना है : **गोविंद मिश्र** 46

वाद, विवाद और संवाद...: **अशोक नाथ त्रिपाठी** 50

आपके भीतर ही तैर रहे अनगिनत प्रश्नों से आपकी राह केदारजी उसी मासूमियत से सहसा रोक लेते हैं जिससे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में वह उद्विग्न बेटी जो दरवाजे की ओट से अचानक प्रकट होती है और परदेस कमाने जा रहे पिता का रास्ता (दो नन्ही बाँहें दोनों ओर फैलाए हुए) रोक लेती है- 'जेते आमी देबो ना तोमार'।

एक जिंदा ध्वनि लोकतंत्र है यह : **अनामिका** 7

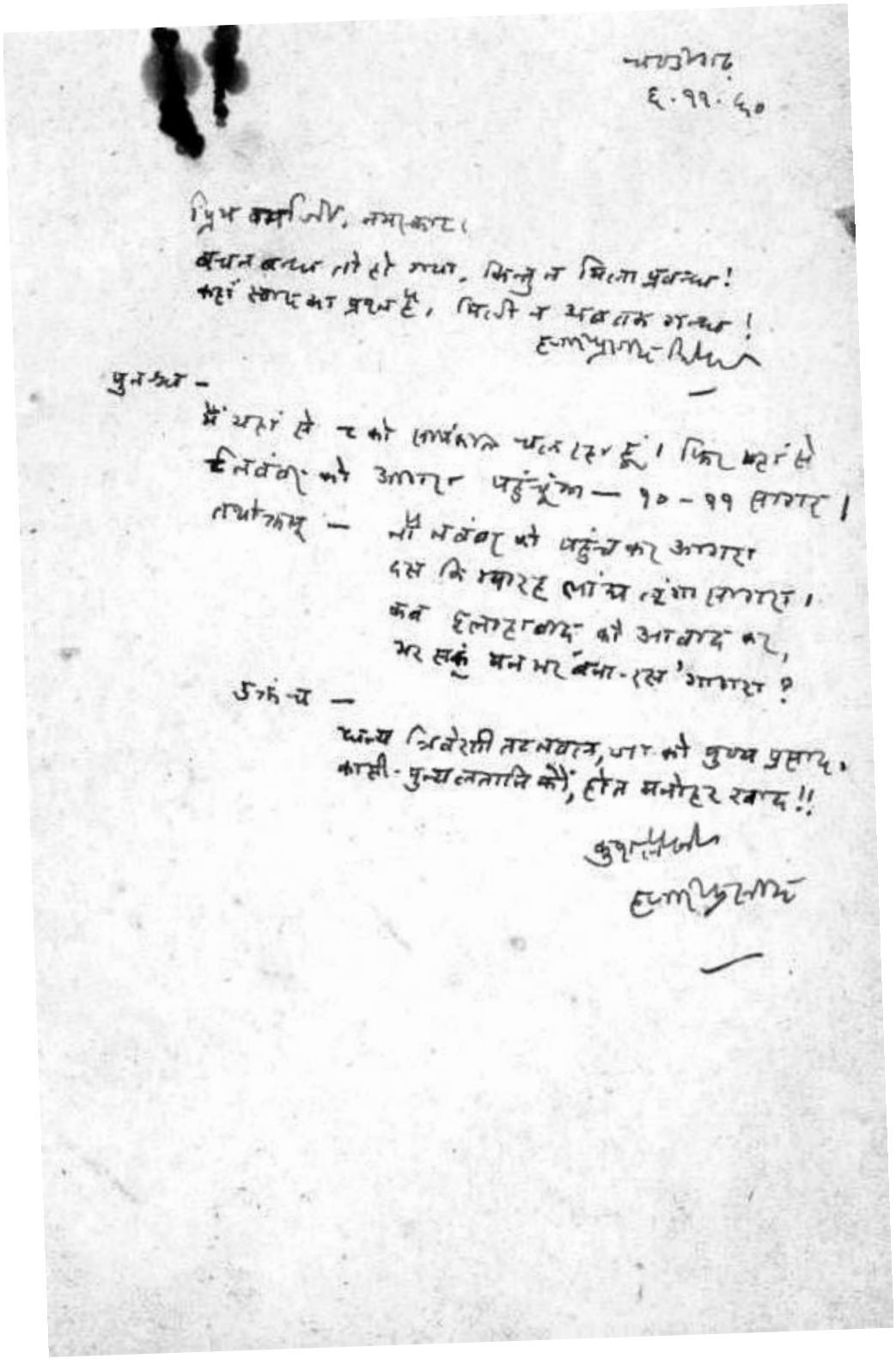

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा डा. रामकुमार वर्मा को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

संपादकीय

पुस्तक वार्ता महज एक पत्रिका ही नहीं, एक ऐसा माध्यम भी है जो लेखक, पाठक और आलोचक के बीच जीवंत संवाद स्थापित करने की कोशिश करता है। पुस्तकों के अनंत संसार में बेरोकटोक विचरण और बिना किसी दबाव और पूर्वग्रह के टिप्पणी की स्वतंत्रता, आखिर पाठक-आलोचक को और क्या चाहिए! ऐसे परिदृश्य में 'पुस्तक वार्ता' का संपादन बेहद जिम्मेदारी का काम है, जिसका अहसास मुझे है। मैं आपको आश्वस्त कर रहा हूं कि 'पुस्तक वार्ता' के साथ जो आशा-आकांक्षा आपने जोड़ रखी है, उसे यथासंभव पूरा करने का यत्न करूंगा।

पुस्तकें शायद नि:स्वार्थ भाव से मित्रता निभाने वाली हमारी दोस्त होती हैं और बेहतर समाजीकरण के लिए उनसे अच्छा कोई और माध्यम नहीं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि पुस्तकों के द्वारा विचारों का आदान-प्रदान होता है। कुछ का मानना है कि किसी व्यक्ति की पसंदीदा पुस्तकों से उसके व्यक्तित्व को समझा जा सकता है। ऐसी तमाम टिप्पणियां हमें मिल जाएंगी जो पुस्तकों के महत्त्व को खूबसूरत लफ्जों में बयां करती हैं। लेकिन इन सबसे इतर सामान्य ढंग से भी सोचें तो पुस्तकों की भूमिका से किसे इंकार होगा। सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया अब बहुत तीव्र हो चली है, ऐसे में सिर्फ सृजनात्मक साहित्य के मूल्यांकन-परीक्षण मात्र से हिन्दी जगत का काम चलने वाला नहीं। अन्य अनुशासनों में हिन्दी में जो महत्वपूर्ण कार्य व शोध संपन्न हो रहे हैं या अंग्रेजी व भारतीय भाषाओं में जो रचा जा रहा है, उनसे भी हिंदी जगत का परिचय जरूरी है। इन सबका ध्यान रखते हुए 'पुस्तक वार्ता' का दायरा बढ़ाने की हमारी योजना है। हमारी यह कोशिश रहेगी कि 'पुस्तक वार्ता' के पाठक सृजनात्मक साहित्य के साथ-साथ समाज विज्ञानों, मीडिया, तकनीकी आदि क्षेत्रों में जो नया घट रहा है, चर्चित हो रहा है, उससे भी रूबरू हों। इस बार के अंक में ऐसे कुछ प्रयासों की झलक आप महसूस करेंगे।

यह 'पुस्तक वार्ता' का मई-जून 2014 का अंक है। मनीषी साहित्यकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुण्यतिथि 19 मई को पड़ती है। यह उनके पुण्य स्मरण का वक्त है, इसलिए इस अंक की शुरुआत हम उनकी स्मृति से कर रहे हैं। हिंदी के महत्त्वपूर्ण कवि केदारनाथ सिंह को हाल ही में ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित करने की घोषणा हुई है। केदारनाथ सिंह की कविता पर भी एक आलेख आप इस अंक में पाएंगे। प्रख्यात इतिहासकार रामचंद्र गुहा की चर्चित पुस्तक 'गांधी बिफोर इंडिया' पर एक समीक्षात्मक आलेख, कथाकार गोविंद मिश्र का साक्षात्कार एवं अन्य समीक्षात्मक आलेख इस अंक में हैं। आपकी प्रतिक्रियाओं का इंतजार है...

विमल झा

■गिरीश्वर मिश्र

पारदर्शी सर्जक का सांस्कृतिक विवेक

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सहज पांडित्य के ऐसे विरल उदाहरण हैं जो आधुनिक संवेदना को आत्मसात करते हुए परम्परागत ज्ञान को सजीव संदर्भ में देख पाते हैं। वे आधुनिक और प्राचीन सब में सहजतापूर्वक आवाजाही करते रहते हैं और अपना मंतव्य तरह-तरह के प्रसंगों द्वारा बड़े सरल ढंग से पाठक तक पहुंचाने में सफल हो जाते हैं। वे शब्दों की तमाम छटाओं को ढूंढ़ते हैं- शास्त्र में, लोक व्यवहार में, गल्प में या फिर सद्य:प्रसूत कल्पना में। उनके चित्त के उल्लास के स्रोत कहीं से भी आ सकते हैं। शब्दों के साथ वे मौज करते हैं, बस एक शर्त रहती है और वह है प्रेषणीयता की। वे पाठक के मन में पैठ जाते हैं और वह भी अपने पूरे तरंगित उल्लास के साथ। यह उल्लास उन्हें उस ज्ञान की अनुभव-परम्परा से मिला है जिसका आधार उनके विविधता भरी अकादमिक पृष्ठभूमि में देखा जा सकता है।

मूल संस्कृत-ज्ञान की परम्परा में दीक्षित होकर शांतिनिकेतन में काव्य, कला, इतिहास, प्रकृति के आस्वाद का व्यापक अवसर उनके लिए गंभीर विचार-मंथन और परिष्कार का ब्याज और अवसर बना। द्विवेदी जी की विचारधारा और उनकी रचनाओं में पग-पग पर जो उदार मानुष भाव परिलक्षित होता है उसके निर्माण में गुरुदेव और शांतिनिकेतन के संस्कृतिसमृद्ध परिवेश का विशेष योगदान है। इसी के चलते द्विवेदी जी समाज, साहित्य और संस्कृति की पड़ताल के लिए एक व्यापक मानवीय संलग्नता के साथ आगे बढ़ने का साहस करते हैं। द्विवेदीजी अपने निबंधों में सांस्कृतिक चिन्हों और अनुभवों का स्मरण दिलाते हुए पाठक से संवाद करते हैं। वे प्रश्न उठाते हैं, समाधान करते हैं और देश-काल की यात्रा कराते हुए एक संश्लिष्ट भारत की छवि और अस्मिता का बोध कराते हैं। उनके उकेरे शब्द-चित्र बड़े ही सजीव बन पड़े हैं। अपने प्रसिद्ध निबंध 'अशोक के फूल' में द्विवेदी जी के इस रूप की एक बानगी देखिये-

'मुझे मानव जाति की दुर्दम-निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखायी दे रहा है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने शक्ति पायी है। हमारे सामने समाज का जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है, शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के सामान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवनी-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है।'

संस्कृति पर चर्चा करते हुए द्विवेदी जी बड़ी दृढ़ता के साथ यह घोषणा करते हैं कि अनेकानेक प्रवाहों के योग से निर्मित संस्कृति जिसमें हम जी रहे हैं, वह तमाम प्रभावों से अनुस्यूत है। वे मानते हैं कि 'मनुष्य में दुर्दम जययात्रा और दुर्धर्ष विजिगीषा होती है।' वे बड़े सरल ढंग से विभिन्न मतों को थहाते हुए स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं कि 'भारत आर्य और आर्येतर का मिश्रण है।' अनेक स्थलों पर द्विवेदी जी ने शक, हूण आदि अनेक संस्कृतियों के साथ भारतीय संस्कृति के पारस्परिक रिश्तों का उल्लेख किया है और

संस्कृति पर चर्चा करते हुए द्विवेदी जी बड़ी दृढ़ता के साथ यह घोषणा करते हैं कि अनेकानेक प्रवाहों के योग से निर्मित संस्कृति जिसमें हम जी रहे हैं, वह तमाम प्रभावों से अनुस्यूत है। वे मानते हैं कि 'मनुष्य में दुर्दम जययात्रा और दुर्धर्ष विजिगीषा होती है।'

दिखाया है कि भारतीय संस्कृति स्थिर वस्तु न होकर एक सतत विकासमान प्रक्रिया है। वे सांस्कृतिक इतिहास का बिना किसी पूर्वग्रह के आधुनिक संवेदना के साथ विश्लेषण करते हैं। औदार्य और बौद्धिक साहस का ऐसा मेल सचमुच दुर्लभ है।

द्विवेदी जी मिथकों, इतिहास, तंत्र तथा साहित्य सबसे अपने तर्क चुनते हैं और बीच-बीच में मस्ती में आकर चर्चा में स्वयं को भी शामिल कर लेते हैं। रससिद्ध गद्य के छंद को रचते उनका कवि-हृदय उछाल मारता है और भाषा से जीवन और रचना को प्राणवान बना देता है। ऐसा करते हुए द्विवेदी जी 'कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू' की याद दिलाते हैं। वे समूची सृष्टि के साथ अपना जुड़ाव देख पाते हैं और इस सबका क्रम उनकी सर्जना का विलास होता है।

अशोक, शिरीष, कुटज और देवदारु पर द्विवेदी जी ने कालजयी रचनाएं दी हैं। वे इन्हें निरे वृक्ष के रूप में नहीं देखते। उनके लिए वे एक व्यापक, एक हद तक दिक् कालातीत परम्परा के प्रतीक और जीवंत स्मारक हैं। उनके बहाने वे पाठक को सक्रिय स्मृतियों के सचल-सघन वन में अपने साथ ले चलते हैं। अशोक अगर 'मस्त' है तो शिरीष 'अवधूत', कुटज 'मनस्वी' और देवदारु एक 'अर्थातीत छंद, या कहें प्राणों का उल्लास नर्तन'। सचमुच द्विवेदी जी का कल्पनाप्रवण गद्य, बौद्धिकता और सौंदर्यबोध की अद्‌भुत मिसाल है।

द्विवेदी जी के ललित निबंध उनके कवि और दार्शनिक रूप के साथ-साथ सूत्रधार की भूमिका को भी व्यक्त करते हैं। वे मौके के मुताबिक भाषा को प्रभावी संबोधन के लिए ढाल लेते हैं। भाव को प्रेषित करना उनका दायित्व और प्रयोजन है और वह बिना किसी आडम्बर के इनका पालन करते चलते हैं। उनकी रचना में आस-पास की सारी दुनिया का, उसके अतीत और भविष्य समेत, एक गेस्टाल्ट-पूर्ण अक्स उतर आता है। वे जो चित्र ढालते हैं उसका ठाठ निराला बनता है। 'कुटज' नामक निबन्ध का यह प्रसंग देखिये-

'इस गिरिकूट-बिहारी का नाम क्या है? मन दूर-दूर तक उड़ रहा है- देश में और काल में- मनोरथानाम् गतिर्नविद्यते! अचानक याद आया- अरे, यह तो कुटज है। संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित, किन्तु कवियों द्वारा अवमानित, यह छोटा सा शानदार वृक्ष 'कुटज' है। 'कूटज' कहा गया होता तो कदाचित ज्यादा अच्छा होता। पर नाम इसका चाहे कुटज ही हो, विरुद तो निस्सन्देह 'कूटज' होगा। गिरिकूट पर उत्पन्न होने वाले इस वृक्ष को 'कूटज' कहने में विशेष आनन्द मिलता है। बहरहाल, यह कूटज-कुटज है, मनोहर कुसुम स्तवकों से झबराया, उल्लास-लोल चारुस्मित! जी भर आया।'

अपने बहुत सारे निबन्धों में द्विवेदी जी देश, काल, वनस्पति, मानव-स्वभाव, जातीय स्मृति, भारतीय ज्ञान-विज्ञान आदि का इतिहास-दृष्टि से सप्रमाण विवेचन उपस्थित करते हैं। वे भारतीयता के एक सहिष्णु व्याख्याता हैं पर किसी भी तरह के दुराग्रह से मुक्त। वे खुले दिमाग से और तथ्यों के आधार पर विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं और उन्हीं के अनुसार विवेक करते हैं।

द्विवेदी जी समाज की सत्ता के आंतरिक और बाह्य पक्षों का एक संतुलित विमर्श हमारे सामने रखते हैं। 'सभ्यता' और 'संस्कृति' के बीच वे एक महत्वपूर्ण अंतर करते हैं। वे कहते हैं कि 'सभ्यता मनुष्य के वाह्य प्रयोजनों को सहज लभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत आनन्द की अभिव्यक्ति'। इसी बात का किंचित विस्तार करते हुए वे आगे कहते हैं कि 'केवल विचार संस्कृति नहीं है, विचारों का जिस रूप में हम प्रस्थापन करते हैं, बुद्धिग्राह्य, इन्द्रियग्राह्य और मनोग्राह्य बनाते हैं वही संस्कृति है। संस्कृति मनुष्य के चित्त के संस्कार का परिणाम है।' द्विवेदी जी संस्कृति को 'विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति' मानते हैं। विकास की संभावना को साकार करने के कारण मनुष्य के लिए संस्कृति से सम्पन्न होना आवश्यक है। इसके उपादान हमारे पास बिखरे पड़े हैं पर आज हम कहीं न कहीं चूक रहे हैं और अपने सांस्कृतिक दाय से निरंतर कटते जा रहे हैं।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में यह उल्लेखनीय है कि द्विवेदी जी परम्परा और आधुनिकता को परस्पर विरोधी नहीं ठहराते। उनका विचार है कि जिसे

द्विवेदी जी के ललित निबंध उनके कवि और दार्शनिक रूप के साथ-साथ सूत्रधार की भूमिका को भी व्यक्त करते हैं। वे मौके के मुताबिक भाषा को प्रभावी संबोधन के लिए ढाल लेते हैं। भाव को प्रेषित करना उनका दायित्व और प्रयोजन है और वह बिना किसी आडंबर के इनका पालन करते चलते हैं।

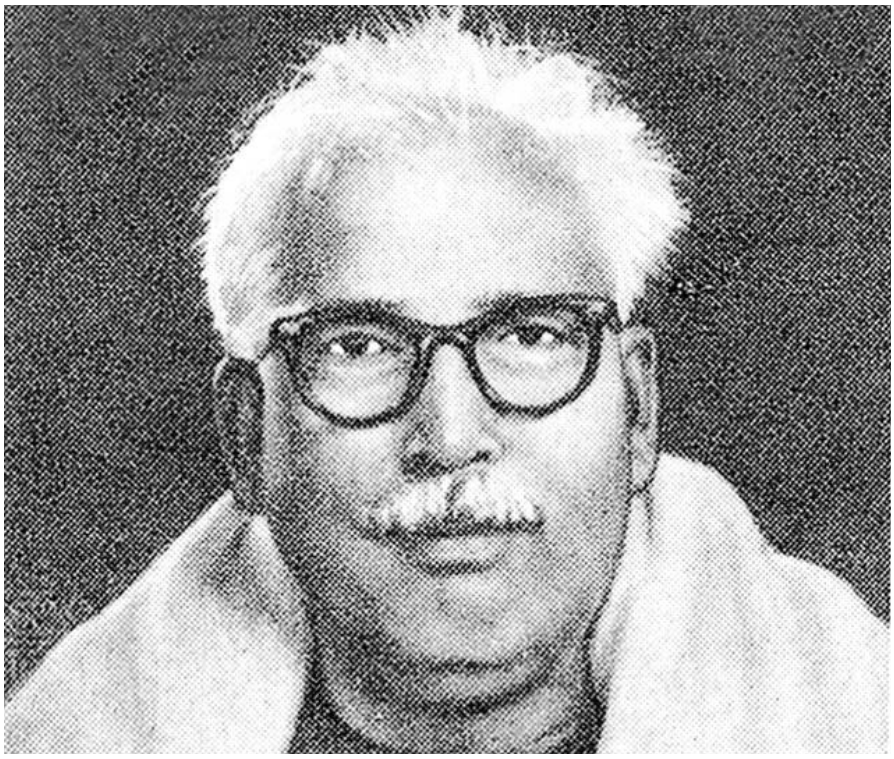

हम 'परम्परा' कहकर पुरातनता या दकियानूसी इतिहासबद्धता कहते हैं वह भ्रम है, क्योंकि 'परम्परा हमें समूचे अतीत से नहीं प्राप्त होती। उसका निरन्तर निखरता, छंटता, बदलता रूप प्राप्त होता है।' वे परम्परा को 'यात्रा के बीच पड़ा हुआ अंतिम चरण' मानते हैं और आधुनिकता को 'गतिशील चरण'। स्मरणीय है कि गति के लिए, आगे बढ़ने के लिए, दोनों पैरों के बीच संतुलन आवश्यक है। परम्परा भार नहीं है, न ही वह किसी स्थिर वस्तु सरीखी है। वह उर्वरा है और उससे नवांकुर उपजते हैं।

द्विवेदी जी की कारयित्री प्रतिभा का स्पर्श पाकर उनकी रचनाओं में भूले बिसरे अनेक चरित्र, प्रतीक और पदार्थ पुनर्जीवित हो उठे हैं। यह कटु सत्य है कि आज की बढ़ती सांस्कृतिक निरक्षरता हमें परम्परा के लाभ से वंचित करती जा रही है। संस्कृति, जिसे द्विवेदी जी ने 'आंतरिक विकास' कहा है वह मनुष्य के प्रयास का फल है जिसके लिए संयम आवश्यक है। वे मानते हैं कि मनुष्य के रूप में जो जीवन हमें मिला है वह निर्बन्ध या स्वच्छन्द नहीं है। मनुष्य होने की यह दरकार है कि हम अपने पर संयम का बंधन डालें। द्विवेदी जी के शब्दों में, 'आत्मनिर्मित बन्धन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है।' मनुष्य की स्थिति उसके स्वयं अपने ऊपर नियंत्रण से बनती बिगड़ती है।

द्विवेदी जी कहते हैं – 'मनुष्य में संयम है, दूसरे के सुख-दुख के प्रति संवेदन, तप, त्याग, वह मनुष्य के स्वयं के उद्भावित बन्धन हैं।' मनुष्यता के प्रकर्ष के रूप में द्विवेदी जी निर्विवाद रूप से गांधी को स्थान देते हैं। वे गांधी को 'अवधूत' कहते हैं। व्यापक रूप से देखें तो भारतीय परम्परा में यम, नियम, धर्म आदि के उपक्रम स्वेच्छया आरोपित बन्धन को ही व्यक्त करते हैं। द्विवेदी जी मानते हैं कि 'अपने आप पर अपने आपके द्वारा लगाया बन्धन हमारी संस्कृति की विशेषता है।' यह संयम ही है जो स्वार्थ के बंधन से मुक्त करता है और 'सामाजिक मंगलेच्छा' या 'लोक कल्याण' का मार्ग प्रशस्त करता है। व्यक्ति, व्यक्ति है पर वह एक व्यापक समाज का हिस्सा भी है। कोई भी अंश किसी समग्र का अंश होता है और अंश के बिना समग्र की कल्पना संभव नहीं है। दोनों की सत्ता परस्पर सापेक्ष हैं।

मानव स्वभाव विचित्र है और व्यष्टि और समष्टि का रिश्ता बड़ा ही जटिल। द्विवेदी जी ने इस रिश्ते के उलझाव को सुलझाने की कोशिश की है। वे कहते हैं, 'सामूहिक रूप से मनुष्य की जीने की इच्छा कभी नहीं मरेगी।' 'व्यक्ति नहीं रहेगा, लेकिन समष्टि रहेगी।' 'मनुष्य जीना चाहता है, निरंतर परिष्क्रियमाण चित् तत्व के रूप में।'

मनुष्य की संवेदना और उसकी जिजीविषा में द्विवेदी जी की प्रगाढ़ और अविचल आस्था है। वे मानते हैं कि 'मनुष्य से बढ़कर कुछ भी नहीं है।' वे मनुष्य जीवन को एक सतत प्रवाह के रूप में ग्रहण करते हैं। वह एक ऐसा प्रवाह है जो सबको समेटता चलता है। इसकी गति और लय बदलती रहती है पर राह बहुत उभरकर आती है।

अपने अनेक निबंधों में द्विवेदी जी समाज और देश की कठिन चुनौतियों से टकराते हैं पर उनका सुचिंतित निष्कर्ष है कि मनुष्य का उज्ज्वल भविष्य। इसी मनुष्य और उसकी मानवता में वे साहित्य की फलश्रुति भी देखते हैं। वे प्रश्न करते हैं – 'क्या कोई ऐसी सामाजिक व्यवस्था नहीं बन सकती जिसमें जोड़ने की माया जीती भी रहे और सत्य के मार्ग में बाधक भी न हो?' द्विवेदी जी आशान्वित हैं और विश्वास व्यक्त करते हैं – 'मेरा मन कहता है कि यह सम्भव है।' मनुष्य की चेतना अनंत सम्भावनाओं का भंडार है और संस्कृति इन सम्भावनाओं को जीवंत बनाती है। द्विवेदी जी की आशा फलवती हो, इसके लिए आवश्यक है कि वैश्वीकरण की दौड़ में हम सांस्कृतिक विस्मरण के भागी न बनें और अक्षय ऊर्जा की स्रोतस्विनी संस्कृति हममें जीवनी शक्ति प्रवाहित करती रहे। ✱

एक जिंदा ध्वनि लोकतंत्र है यह

■ अनामिका

प्रायोजित, 'रेडीमेड', 'क्विक टु सर्व', बोतलबंद एहसासों के इस तुरन्ता युग में कोई विलम्बित/ध्रुपद शैली में धीरे-धीरे जीवन-मर्म की परतें उधेड़े और फिर भी उतना ही लोकप्रिय हो जितने अपने केदारजी तो आखिर क्यों? क्या है उनकी कविता में और उनके पूरे काव्य-व्यक्तित्व में जो इतना अकुंठ और आश्वासनकारी लगता है कि बबूल के नीचे लेटे छोटे से छोटे बच्चे, टमाटर बेचनेवाली बुढ़िया और इब्राहिम मियां ऊंटवाले से लेकर चीनी कवि तू फू, कबीर, तॉल्सतॉय, कुम्भनदास, ज्यां पॉल सार्त्र तक उनसे अपना दुख-सुख बतिया आते हैं? जीवित प्राणियों को तो छोड़ भी दें, ईश्वर, सूर्य, पृथ्वी, धूप, मिट्टी, हवा, आकाश, पेड़, घास, नदी, घोंसले, कबीर सूत मिल, तॉल्सतॉय की साइकिल, समुद्र, गमछा और तौलिया, बढ़ई का रन्दा, फसल, कुल्हाड़ी, मांझी का पुल, टूटे हुए ट्रक, पांडुलिपियों और अन्य बेजुबान चीजों के पक्ष से सोचने का शऊर जिनकी कविता में सहज-सरल ढंग से पल्लवित होता चला गया है, समकालीन हिंदी की तीन पीढ़ियों के वे प्रिय कवि केदारनाथ सिंह ऐसे हैं, जैसे वे हैं वैसा शायद इसलिए भी हैं कि छः मातृहीन शिशुओं, अनेक पुरबिए विस्थापितों, छात्रों, नए कवियों, अभी-अभी जन्मे बिल्ली और कुत्ते के बच्चों को भी उन्होंने मां वाली ममता और पुरबिया किसान के बेटे वाले धीरज से सींचा है।

सरल होना कितना कठिन है, यह केदारजी जैसे लोग ही जानते हैं जिनकी सरलता जटिल अनुभवों से लबालब भरी हुई होकर भी कहीं कुटिल तिक्तता की शिकार नहीं हुई और धीरज से, संयम से बीनती-चुनती रही दुनिया की, भाषा की लुप्तप्राय अनुगूंजें, अंतर्ध्वनियां, आहटें, मिट्टी की गंध और जातीय स्मृतियां! केदारजी की कविता की और शायद उनके व्यक्तित्व की भी सबसे बड़ी ताकत उनका प्रज्ञादीप्त संयम है और वह उदार अंतःपाठीयता जो भेद-भाव की सारी संरचनाएं ढाह देती है और 'शास्त्र' और 'लोक', 'आपबीती' और 'जगबीती', 'इतिहास' और 'मिथक', 'निज' और 'निजेतर' के बीच संदीप्त-सी आवाजाही सम्भव करती है। केदारजी चकिया से बनारस, बनारस से पडरौना, पडरौना से दिल्ली जो आए तो लोकजीवन की सारी कश्मकश गठरी में बांधे हुए, और बाद के वर्षों में भी इनका कालबोध हमेशा उनके स्थान-बोध से छनकर ही बाहर आता रहा - जैसे दुपहरिया की किरणें टाट से छनकर कमरे में आती हैं।

आदिम स्मृति की तरह परतदार हैं केदारजी की कविताएं। खुद उनके शब्दों में, 'मेरी पहली घड़ी दुपहरिया के फूल थे। ठीक बारह बजे वे खिलते, और जब वे खिल जाते, पूरे खिल जाते तो पाठशाला में दोपहर के खाने की छुट्टी हो जाती।' पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के पट्टशिष्य रहे और विश्व-कविता के गम्भीर अध्येता तो जाहिर है, इनका 'समकाल' अनंत है, तू-फू भी इनके इतने ही समकालीन हैं जितने रिल्के, लोर्का, नेरूदा और जिग्न्यू हर्बर्ट। बोर्खेज की ही धुन में ये अपने समकाल की सरहद बढ़ाते हुए जैसे हर कविता में कहते सुनाई देते हैं- 'समय वह नदी है जो तुम्हें बहा लेती है पर नदी तुम्हीं हो। यह पंचतंत्र का वही बाघ है जो पाणिनि से व्याकरण सीखता है, बुढ़िया की बटुली में समा जाता है, ट्रैक्टर को अनाज के लाल दाने की तरह देखता है, पर बाघ तुम ही हो। समय वह आग है जो तुम्हें भस्म कर सकती है, त्रिनिदाद के आदिम प्रवासी की बीड़ी की आग, पर आग तुम ही हो। दुःखद है कि यह दुनिया सच्ची है, पर तुम्हीं हो यह दुनिया।'

'ज्ञानपीठ पुरस्कार' के आईने में देखा जाए तो

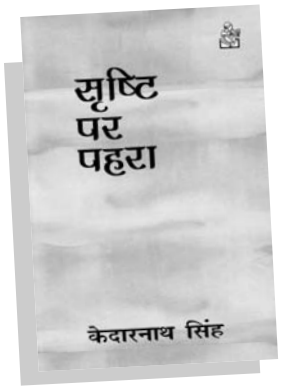

पुस्तकः सृष्टि पर पहरा
कविः केदारनाथ सिंह
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रकाशन वर्षः 2014
मूल्यः ₹ 250

समकालीन हिन्दी कविता का चेहरा लगातार कम रोबदार (और शायद इसीलिए अधिक मानवीय) होता चला गया है। दिनकर, अज्ञेय, नरेश मेहता के रोबदार, आश्वस्त चेहरों के बाद कुंवरजी और फिर केदारजी की (निर्मल वर्मा से मिलती-जुलती) सोचती हुई-सी, प्रश्नबिद्ध आंखें एक अलग ही कहानी कहती हैं। आंखों से उतरकर कविता के शिल्प पर आएं तो वहां भी प्रश्न ही प्रश्न तैरते हैं।

विरामचिन्हों को व्यंजक मानें तो एक पंक्ति में समकालीन हिन्दी कविता का इतिहास बांचा जा सकता है, कहा जा सकता है कि छायावादी कविता यदि विस्मयादिबोधकों की कविता थी, प्रगतिशील कविता विश्लेषणपरक-निर्णयात्मक पूर्णविरामों की कविता, प्रयोगवादी कविता डैशों और कोष्ठकों की कविता तो पिछले कुछ दशकों की हिन्दी कविता प्रश्नचिन्हों और संवादी उद्धरण कोष्ठकों से भरी हुई अंत:पाठीय कविता है जो लच्छेदार भाषण नहीं करती, पर बड़े-बड़े बोल नहीं बोलती, न आदेश देती है, न संदेश, जीवन के कठिनतम पलों में चुपके से आपका हाथ थाम कर साथ खड़ी हो जाती है: (सुकरात की तरह) आपके ही गहनतम अंत:स्थल में तैर रहे सार्थक प्रश्नों से आपको रू-ब-रू करती हुई।

आपके भीतर ही तैर रहे अनगिनत प्रश्नों से आपकी राह केदारजी उसी मासूमियत से सहसा रोक लेते हैं जिससे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में वह उद्विग्न बेटी जो दरवाजे की ओट से अचानक प्रकट होती है और परदेस कमाने जा रहे पिता का रास्ता (दो नन्ही बांहें दोनों ओर फैलाए हुए) रोक लेती है- 'जेते आमी देबो ना तोमार'।

केदारजी के व्यक्तित्व में होगी, पर उनकी कविताओं में (बावजूद इस प्रकट मासूमियत के) ब्लेक के 'सॉग्स ऑफ इनोसेंस' वाली सरलता नहीं, एक संश्लिष्ट किस्म की प्रांजलता है, एक ऐसे प्रज्ञादीप्त 'इनोसेंस' की अनुगूंज जो 'सॉग्स ऑफ एक्सपिरिएन्स' के त्रिविध तापों से गुजरने के बाद प्रकट होती है।

बच्चों वाली स्निग्धता नहीं है वहां, न परमहंसवाला भोला वैराग्य, वह एक दूसरी तरह की सरलता है, कुछ-कुछ वैसी जो पिकासो के शून्य में थी। पिकासो मित्र के घर गये। मित्र न मिला, उसका हाउसकीपर मिला। उसने नाम पूछा तो पिकासो खाली कागज के टुकड़े पर एक शून्य उकेरकर चल दिए। हाउसकीपर भौंचक! पर मित्र कागज देखते ही समझ गया- 'अच्छा, पिकासो आया था। इतना सुडौल शून्य और कौन खींच सकता है!' पिकासो का यही सुडौल शून्य केदारजी की कविता की सिग्नेचर ट्यूब है।

इस सुडौल शून्य में दुनिया के सारे द्वित्व, दुविधाएं और ध्रुवान्त गले मिलकर यों सोए हैं जैसे कि गले मिलकर सोए दो पिटे हुए बच्चे। हमारा समय ही ऐसा है जहां सारे निष्कर्ष पिट चुके हैं, ढह गये सारे महाप्रमेय, और लघुप्रमेय भी - गली-गली फिरते, अनाथ, कामकाजी बच्चों की तरह जगह-जगह की ठोकरें खाते, रोज अपने को बनाते-बिगाड़ते वे जिस शून्य में

थककर सोए मिलेंगे – वह शून्य केदारजी जैसे कवियों का है जिनका काल-बोध उनके स्थान-बोध के रंध्र से उनकी कविता में प्रवेश लेता है:

'और अब ब्रह्माण्ड के धुर उत्तर में
यह आमी का वही तट है
जहां अनन्त को एक गठरी की तरह
पीठ पर लटकाए हुए
मैं फिर खड़ा हूं' (उत्तर-कबीर और अन्य कविताएं) मैं, यानी कबीर, गलियों की ठोकर खाता आम आदमी- कबीर सूत मिल और बगल में बहती 'आमी' नदी:

'जाना चाहता हूं मगर कहां
जानता कोई नहीं
और वैसे भी जो यह जानना है
उसकी एक गहरी सांठ-गांठ है
न जानने के साथ
X X X X
'और अन्त में मित्रो,
इतना ही कहता हूं कि अन्त
महज एक मुहावरा है
जिसे शब्द अपने विस्फोट में
उड़ा देते हैं
और बच रहता है हर बार
वही एक कच्चा-सा
आदिम, मिट्टी-जैसा आरम्भ
जहां से हर चीज
फिर से शुरू हो सकती है
फिर से खड़िया,
ककहरा फिर से
फिर से गिनती सौ से शून्य की तरफ
सूर्यास्त से धूप-घड़ी की तरफ
समय फिर से,
ये फिर से
फिर से।' ('बाघ')

जानना-न जानना, आरम्भ-अन्त, गिनती और शून्य, सूर्यास्त और धूप-घड़ी -ये ही वे द्वित्व हैं जिन्हें मैंने गले मिल सोए पिटे हुए बच्चे कहा। पहले धर्म, फिर मार्क्सवाद, फिर समाजवादी संकल्पनाओं की अन्य संरचनाएं, जो मनुष्य को एकसूत्र में पिरोए रखती थीं, आज खुद मिट्टी के 'बाघ' की तरह ध्वस्तप्राण बिखरी हैं, कौन चुनेगा इनके टुकड़े? कौन उन्हें फिर से नयी मिट्टी में ढालेगा? जातीय स्मृतियां क्या नया सांचा बनेंगी? ये कुछ महाप्रश्न हैं जिनकी ओर केदारजी बार-बार लौटते हैं, और लगातार इनकी कविताओं में यह एहसास हावी रहता है कि –

'एक सुई खो गई है

आपके भीतर ही तैर रहे अनगिनत प्रश्नों से आपकी राह केदारजी उसी मासूमियत से सहसा रोक लेते हैं जिससे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में वह उद्विग्न बेटी जो दरवाजे की ओट से अचानक प्रकट होती है और परदेस कमाने जा रहे पिता का रास्ता (दो नन्ही बांहें दोनों ओर फैलाए हुए) रोक लेती है- 'जेते आमी देबो ना तोमार'।

पृथ्वी के दिल में
और दर्जी सुई की नोंक में खो गया है
एक मिट्टी के ढेले में
गुम गया है कुम्हार
और बढ़ई लोप हो गया है
चिरती हुई लकड़ी की गंध में
कवि अपने शब्दों की फांक में
लापता है
और स्वाद लौट गया है
फिर से अपनी गुठली में!
('उत्तर कबीर')

प्राइवेट और पब्लिक ब्रेकडाउन के इस विकट समय में केदारजी की कविता हमें आदिम तत्वों और आर्केटाइप की ओर लौटने को कहती है। जैसे कि विश्वायन का मारा विस्थापित किसान बार-बार अलाव घेरकर बैठ जाता है, इनकी कविता घेरकर बैठ जाती है इन्हीं आदिम तत्वों और आर्केटाइप्स को (आग, पानी, पाण्डुलिपियां, घोंसले, प्राचीन कवि- कबीर, केशवदास, तू फ्रू लि पाई)! या फिर अपनी गुदड़ी बिछा लेती है पुरानी इमारतों के पिछवाड़े ('कुशीनगर', 'पीठ टिकाने की जगह')। कभी-कभी वह 'पानी बेचनेवालों' से दु:ख-सुख बतिया आती है, कभी 'इब्राहिम मियां ऊंटवाले' से और जिसे पर्यावरणवाले 'प्रकृति की पाठशाला' कहते हैं, वहां से तो जैसे इनकी कविता रह-रहकर भर-भर सांस बटोर लाती हैं-लुखरी, पशु की कराह, बाघ, चींटियों की रुलाई और पूरी पृथ्वी। सूखे हुए, गिरते नीम के पत्तों को बांहों को झुलाकर सुलाती हुई पूरी पृथ्वी तो इनका घर है 'गांव में छोड़ा हुआ घर' जो अब ये 'कबूतरों' को दे आए हैं।

नेरूदा, पाज़, वॉल्कॉट, हीनी और विश्व-कविता के दूसरे बड़े कवियों की तरह केदारजी भी जातीय स्मृतियों की 'रोपनी' दुबारा, एक नए जलासक्त जल में करते हैं, ऐसे जल में जिसमें अपने समय की सब आहटें सिमटी पड़ी हों। वैयक्तिक, अंतरवैयक्तिक और जातीय सन्दर्भों का उचकुन एक ऐसा अलाव रचती है कि मनुष्य और उसके परिवेश के बीच में सारे सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और मिथकीय अंत:सूत्र एकदम से उजागर हो जाएं। तुमुल कोलाहल-कलह में हृदय की बात सी सिहर उठने वाली यह कविता शब्दों के साथ वही करती है जो नि:शब्द होकर एक प्रेमिल स्पर्श करता है- भीतर की सारी अंतर्ध्वनियां जगाकर हमें मनुष्यतर बनाने का काम!

एक बार लगता है कि सब-कुछ भूल गये, फिर लगता है, सब कुछ याद आ गया, प्रश्न जगे और तिरोहित हो गये, सब-कुछ

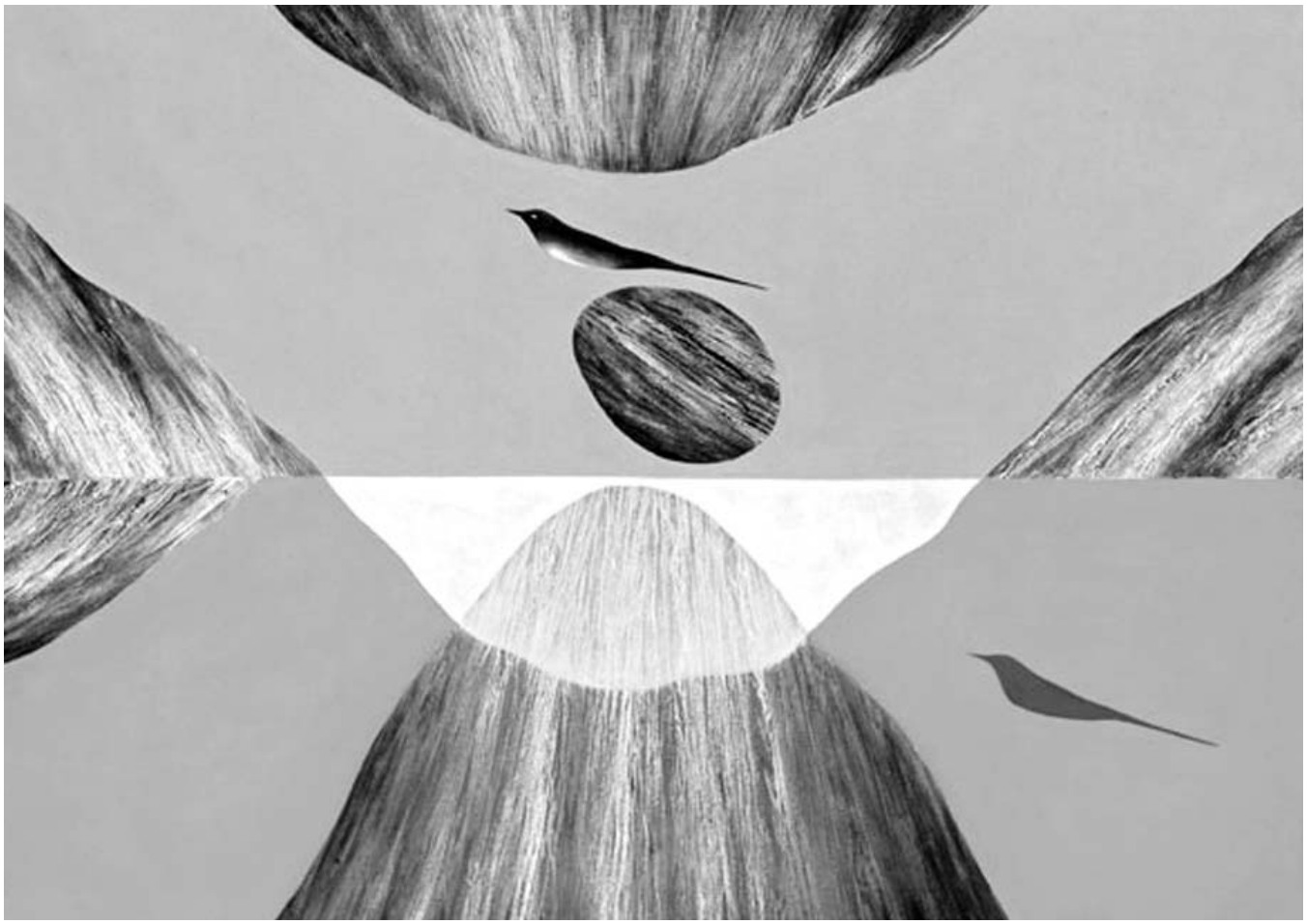

जे. स्वामीनाथन की एक कलाकृति

समझ आ गया और कुछ भी समझ में नहीं आया, जीवन के सूत्र मिले और खो गये, रह गई तो एक धीमी जिजीविषा – सब क्रूरताओं के खिलाफ उर्ध्वबाहु खड़ी, याद दिलाती हुई कि बावजूद सारी विषमता, विडम्बना के –

'जीना होगा
रस्सी से झूलकर
बधस्थल से लौटकर
जीना होगा
समय
चाहे जितना कम हो
स्थान चाहे उससे भी कम
चाहे शहर में बची हो
बस इतनी-सी हवा
जितनी एक साइकिल में होती है,
पर जीना होगा।'

उनके सद्य:प्रकाशित संग्रह 'सृष्टि पर पहरा' से यह बात समझने की कोशिश की जाए तो कई पंक्तियां नवजात पक्षी-शावकों की तरह गर्दन उठाती नजर आएंगी जिनमें कवि की ही तरह सारा संसार घूमकर वापस अपने घोंसले, अपने उस (तिनकों की तरह कांपते) गहन एकान्त तक लौट-लौट आने की विनय है। स्वाभाविक है कि ऐसी कविता का रेंज (विस्तार) बड़ा हो- सूर्य, पृथ्वी, नदी, ज्यां-पॉल सार्त्र, निराला, त्रिलोचन, कुम्भनदास, कबीर, टॉल्सटॉय और रोम में मिला बांग्लादेशी युवक इसके जितने सगे हैं, उतने ही सगे हैं कपास के फूल, 'हलन्त', 'भोजपुरी', 'कृतज्ञ कीचड़', 'काली सबकी', 'जो चली जा रही है बिल्ली', 'हीरा हलवाहा', 'बैलों का संगीत प्रेम', 'गमछा और तौलिया'।

अपने समय की आहट इनमें अनहद की तरह बजती है और सारी स्थितिगत और चरित्रगत विडम्बनाएं लगातार प्रश्नांकित हुई जाती हैं। सूर्य उन्हें हर शहर में मिल जाता है- 'प्रेम के पहले प्रतिद्वंद्वी की तरह'...आज वह ब्रह्माण्ड का सबसे संपन्न सौदागर है' –

'जो मेरी पृथ्वी के साथ
तप और ऊर्जा की तिजारत करता है
ताकि उसका मोबाइल
होता रहे चार्ज'

पूरे जगत् के 'मंडी' में बदल जाने की यह प्रक्रिया भाषाओं का, जल का, हरियाली का, बीजों का, पूरे ही पर्यावरण का जो हाल कर गई है, उसके प्रति कई कविताएं महीन इशारे करती हैं, लोकनाट्य की उसी भोली संवाद-शैली का सहारा

लेती हुई जिसका भिखारी ठाकुर भी व्यंजक इस्तेमाल करते थे –

'आज घर में घुसा
तो वहां अजब दृश्य था
सुनिए, मेरे बिस्तर ने कहा –
यह रहा मेरा इस्तीफा
मैं अपने कपास के भीतर
वापस जाना चाहता हूं ...
उधर आलमारी में बन्द
किताबें चिल्ला रही थीं–
खोल दो – हमें खोल दो
हम जाना चाहती हैं
अपने बांस के जंगल
और मिलना चाहती हैं
अपने बिच्छुओं के डंक
और सांपों के चुम्बन से! ('विद्रोह')

'एनिमल फॉर्म' (जार्ज ऑरवेल) में निहित व्यंग्य से भी ज्यादा महीन यह कविता 'इस्तीफा' जैसे कामकाजी शब्द का उतना ही व्यंजक प्रयोग करती है जितना 'एफिडेविट' शब्द का एमिली डिकिन्सन : एबिस हैज नो बायोग्राफर ... देयर वॉज नो ऐफिडेविट ऑफ हेवेन'।

शब्द–चयन और विश्व–दृष्टि में निहायत देशज (लोकनाट्य वाले सहज छंद लिए आपसी संवाद) और कथन–भंगिमा की नफासत और कमसुखनी में निहायत नागर और शाइस्ता (अर्बेन) – केदारजी की कविता गहन अर्थों में द्वित्वों का समाहार है। 'भोजपुरी' और 'हलन्त' के अलावा एक कविता है 'जैसे दिया सिराया जाता है' जिसमें अंगरेजी के महानद में हेराती लोकभाषाओं का संकट मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त होता है। 'सिराना' शब्द ठेठ भोजपुरी का शब्द है, नदी में दीप प्रवाहित करने की क्रिया का अभिव्यंजक, मां का मृत शरीर दीए की तरह नदी में सिराते हुए इस कवि को बात की चिंता है कि कैसे उस नए 'लोक' में अकेले अपना काम चलाएगी मां जिसे भोजपुरी के सिवा और कोई भाषा ही नहीं

पूरे जगत् के 'मंडी' में बदल जाने की यह प्रक्रिया भाषाओं का, जल का, हरियाली का, बीजों का, पूरे ही पर्यावरण का जो हाल कर गई है, उसके प्रति कई कविताएं महीन इशारे करती हैं, लोकनाट्य की भोली संवाद–शैली का सहारा लेती हुई।

आती, सम्प्रेषण–बहुल इस युग की भीतरी संवादहीनता पर इससे तीक्ष्ण प्रहार और क्या हो सकता है। 'फुलगेंदवा' जैसे शब्द भी कैसे इतना मार्मिक प्रहार कर सकते हैं, यह केदारजी से सीखने लायक है:

'जब वह बहती हुई
चली गई दूर तो ध्यान आया
हाय, ये मैंने क्या किया
उसके पास तो वीसा है न पासपोर्ट
जाने कितना गहरा–अथाह जलमार्ग हो
जल के कस्टम के कितने पचड़े
कुछ देर इस उम्मीद में
शायद कुछ दिख जाए
खड़ा–खड़ा देखता रहा
जल के भीतर की
वह गहरी अंधेरी जाम–लगी सड़क
और जब कुछ नहीं दिखा
तो मैंने भागीरथी से कहा–
मां,
मां का खयाल रखना
उसे सिर्फ भोजपुरी आती है।'

इस भीड़ भरी दुनिया में सिर्फ भोजपुरी जाननेवाली बूढ़ी औरत की लाचारी इससे कम शब्दों में बयान हो पाना असम्भव है, वही भोजपुरी जिसकी –

'क्रियाएं खेतों से आई थीं
संज्ञाएं पगडंडियों से
बिजली की कौंध और
महुए की टपक ने
इसे दी थीं अपनी ध्वनियां
शब्द मिल गये थे दानों की तरह
जड़ों में पड़े हुए
खुरपी–कुदाल के युगल संगीत
इसे मिले थे छंद ...
लोकतंत्र के जन्म के बहुत पहले का
एक जिंदा ध्वनि लोकतंत्र है यह
जिसके एक छोटे से 'हम' में
तुम सुन सकते हो करोड़ों
'मैं' की धड़कन।

केदारजी के भीतरी व्याकरण में 'जाना' दुनिया की सबसे खौफनाक क्रिया है। पिता गए, माता गयीं, पत्नी गयीं और उनके साथ–साथ –

'बारी–बारी चले गये
बहुत से दिन
और ढेर सारे पक्षी
और जाने कितनी भाषाएं
कितने जलस्रोत
चले गये दुनिया से
जब वह गयीं।'

'निज' का 'निजेतर' तक, सूक्ष्म का महत् तक यह उत्तरोत्तर प्रसार जिस सहज छन्द में केदारजी के यहां दर्ज है, वैसा कम कवियों में है। निजी जीवन की खला में ही रहने आ गये झुंड के झुंड शब्द, किताबों के रेवड़, मंच, माइक और पुरस्कार। यहां येट्स सहज ही याद आते हैं: मॉड गॉन मिल जाती, प्रेम मिल जाता तो 'आई उड हैव थ्रोन पुअर वर्ड्स अवे।' सारी सर्जनात्मकता है तो क्षतिपूर्ति ही 'ऐसा कोई ना मिला जिन सौं रहिए लागी। यही अकेलापन, गेंडे के सींग–सा अकेला वजूद, ब्रह्म के विराट अकेलेपन में प्रतिबिम्बित कहा जाता है : 'एकोहं बहुस्याम्। ✱

(लेखिका सुप्रसिद्ध कवयित्री हैं।)

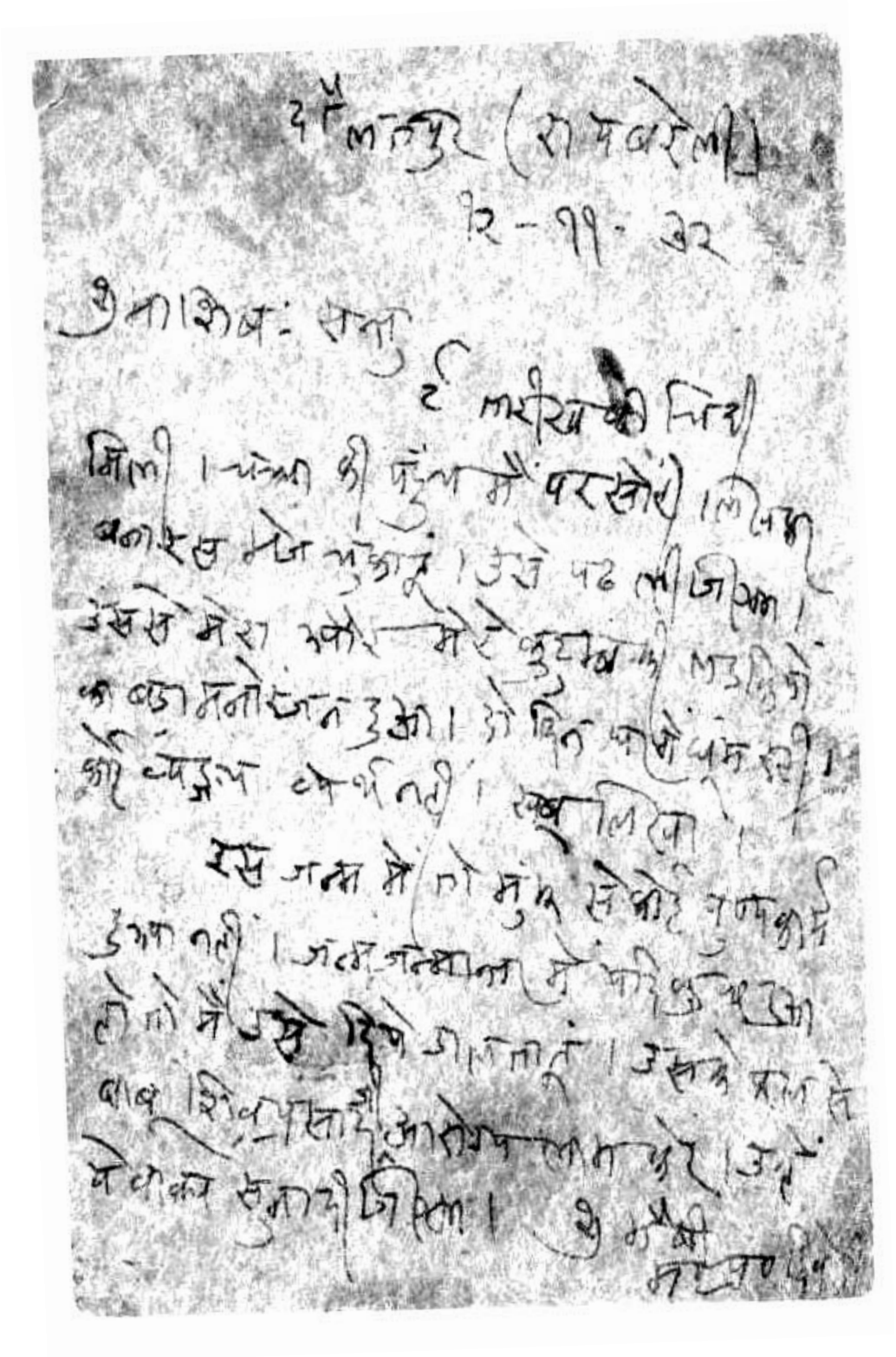

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा श्री अन्नपूर्णानंद वर्मा को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

उर्दू का आरंभिक युग और अंदाज गुफ्तगू के

■ चंदन श्रीवास्तव

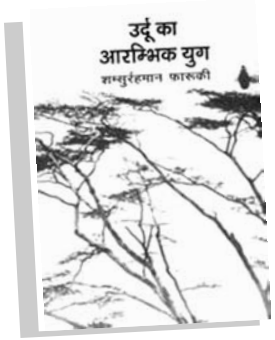

पुस्तक: उर्दू का आरम्भिक युग-साहित्यिक संस्कृति एवं इतिहास के पहलू
लेखक: शम्सुर्रहमान फारुकी
अनुवाद: रहील सिद्दीकी/ गोविन्द प्रसाद
संपादन: कृष्णमोहन/ दीपक रुहानी
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2012
मूल्य: ₹175

''**...क्या** हिन्दी कहलाने वाली इस सूबे या मुल्क की कोई भाषा भी है? शुरू से उर्दूवाले यह कहते चले आए हैं कि हिन्दी कोई जबान नहीं। तिरस्कार से वे उसे भाषा भी कहने से गुरेज करते आए हैं। उसके प्रति अपने नफरत का इजहार उसे 'भाखा' कहकर किया करते थे और करते हैं। उर्दू के एक बड़े आलिम ने यहां तक कह डाला कि हिन्दी में कुछ है ही नहीं, उसमें तो मजहबी तर्ज की चंद नज्में लिखी गई हैं। उर्दूवाले अब तक कहते हैं कि हिन्दी के हिमायती संस्कृत के शब्दों को ठूंस-ठांसकर एक बनावटी जबान ईजाद करने की कोशिश में लगे हैं। डॉ. अब्दुल हक तो उसे उर्दू पैदा हुई बताते हैं। उर्दूदां संस्कृत के लफ्जों से कितना चिढ़ते हैं, इसका अगर आपको सही अन्दाजा ना हो, तो हाल ही में 'लीडर' में प्रकाशित श्री रघुपति सहाय जी के पत्र को पढ़ लीजिए, जिससे आपको इस बात का पता चल जाएगा कि इलाहाबाद में उर्दू दिवस मनाए जाने वाले जलसे में सर तेज बहादुर सप्रू ने उनके साथ कितनी सख्ती का व्यवहार किया.....उनकी इस नफरत से इस बात का सही अन्दाजा हम लगा सकते हैं कि वे हिन्दी को क्यों कृत्रिम भाषा कहते हैं और क्यों अरबी और फारसी के शब्दों के स्थान में संस्कृत पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से उन्हें इतनी बेचैनी पैदा होती है। उनके लिए अब्दुल रहीम खानखाना, केशवदास, सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, रसखान, जायसी, कबीर, टोडरमल, बीरबल, गंग, मतिराम, और देव आदि सब कृत्रिम भाषा लिखने के दोषी थे.....इन विद्वानों का यह कहना है कि हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण, महावीर प्रसाद द्विवेदी, सदल मिश्र और लल्लूलाल ने अगर हिन्दी में लिखा तो लिखा ऐसी जबान में जिसका कोई अस्तित्व नहीं, जिसका कहीं प्रचार नहीं और जो जन्म से ही बनावटी थी।''

हिन्दी-उर्दू के बीच चले आ रहे झगड़े की एक झलक दिखाने वाली उपर्युक्त पंक्तियां 'हिन्दी बनाम उर्दू' नामक पुस्तिका की हैं। लेखक हैं हिन्दी-पब्लिक स्फीयर के भुला दिए गए किरदारों में से एक और तत्कालीन युक्त प्रांत की अभिजन-बिरादरी के बीच पैठ रखने वाले वेंकटेश नारायण तिवारी। पुस्तिका का प्रकाशन वर्ष उस्मानिया यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी में सुरक्षित प्रति में सन् 1939 दर्ज है। हैरत कीजिए कि इस पुस्तिका में हिन्दी के बारे में 'उर्दू के आलिम' के जो फैसले दर्ज हैं बहुत कुछ वही फैसले तनिक नफासत के साथ समीक्ष्य पुस्तक 'उर्दू का आरम्भिक युग' में भी सुनाए गए हैं जबकि इन दो पुस्तकों के लेखन के बीच तकरीबन सात दशक का फासला है यानी एक पूरी सदी करवट बदल चुकी है।

'उर्दू का आरम्भिक युग' ढेर सारी साखी-गवाही के साथ यह साबित करती है कि 'दिल्ली के रेख्तावालों' की जबान में 'मृदुलता, नफासत और शुद्धता' का जोर सन् 1750 यानी गिलक्राईस्ट के फोर्ट विलियम कॉलेज के करीब पांच दशक पहले ही बढ़ चुका था और वह हिन्दुस्तान के एक बड़े हिस्से में पहुंच चुकी थी। किताब की राजनीतिक योजना के भीतर यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थापना है। इस स्थापना को मानते ही एक साथ कई बातें होती हैं। एक तो यह कहना संभव हो जाता है कि हिन्दी के पुरानेपन का कोई भी दावा बेतुका है। दरअसल आज की हिन्दी अंग्रेजों (फोर्ट विलियम कॉलेज) की गढ़ी हुई चीज है, सो उर्दू की तुलना में वह एक बिल्कुल ही नयी भाषा है। दूसरे, 19 वीं सदी के उत्तरार्ध के हिन्दी-आंदोलन के पैरोकार अंग्रेजों द्वारा भाषा के बारे में फैलायी गई विषबेल

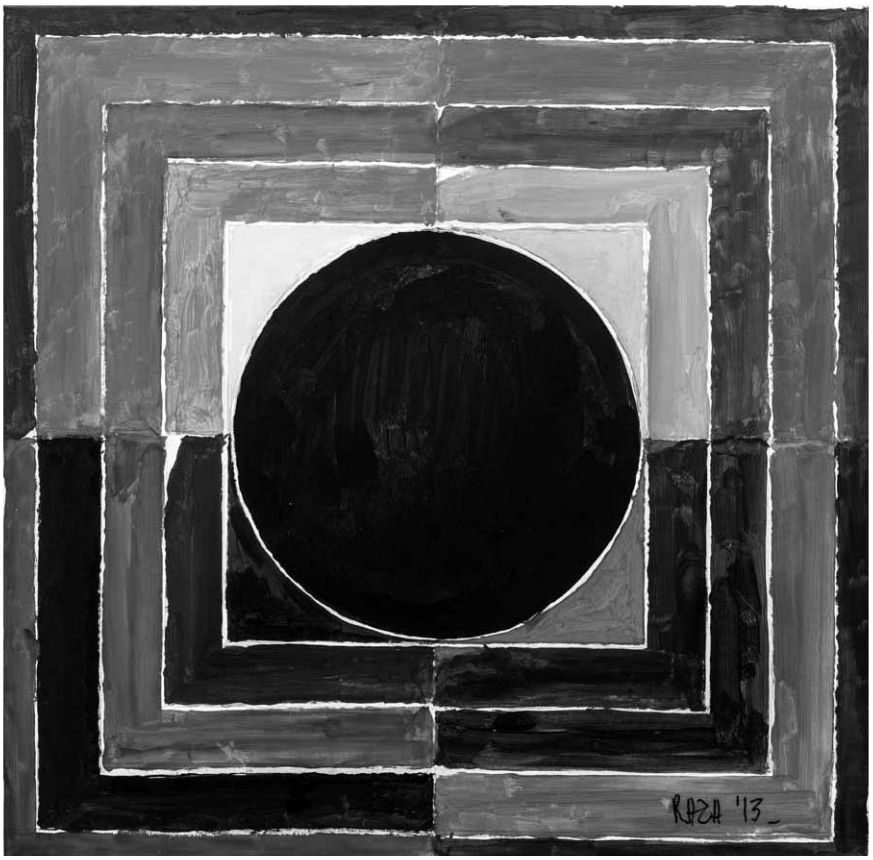

एस. एच. रज़ा की एक कलाकृति

(हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की) को पुष्पित-पल्लवित करने के दोषी हैं। तीसरे, यह कि उर्दू को हिन्दी की एक शैली कहने का प्रचलन दरअसल सांप्रदायिक अहम्मन्यता का सूचक है क्योंकि 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में हिन्दी नाम की जो नयी भाषा बनी, दरअसल तो वह 18 वीं सदी के उत्तरार्ध से चली रही उर्दू ही थी जिसके भीतर चुन-चुनकर संस्कृत के शब्द और मुहावरे भर दिए गए। 'उर्दू का आरंभिक युग' की पूरी बनावट के भीतर ये फैसले विन्यस्त हैं और सबसे ज्यादा मुखर हैं। पुस्तक की एक पाद टिप्पणी में जहां लेखक ने वसुधा डालमिया की चर्चित पुस्तक 'द नेशनलाइजेशन ऑफ हिन्दू ट्रेडिशन : भारतेन्दु एंड नाइन्टीन्थ सेंचुरी बनारस' में व्यक्त 'हिन्दी' विषयक विचार का सारांश इन शब्दों में लिखा गया है - 'राष्ट्रवादियों (यानी हिन्दी के पैरोकार) और साम्राजियों (अंग्रेज हाकिम) में कम से कम इस बात पर सहमति थी कि हिन्दुओं की अपनी एक भाषा है और यह भाषा उन्हें आज ही के मुसलमानों से नहीं बल्कि भूतकालीन मुसलमानों से भी अलग करती है। दोनों में विभिन्नता थी तो बस इस बात की कि अंग्रेजों का दावा और जोर अपने बारे में था कि हमने यह भाषा पैदा की। यह हमीं थे जिसने इसको मुसलमानी मलबे से निकाला, वह सारा मलबा जो इसके अन्दर और चारों ओर जमा हो गया था। इसके विपरीत हिन्दुओं को यद्यपि यह बात मान्य थी कि इस आधुनिक हिन्दी भाषा में कोई साहित्य न था लेकिन वे यह भी दावा करते कि इस भाषा की क्रमबद्धता प्राचीन काल से थी।' (पृष्ठ-34)

किताब में वसुधा डालमिया का जिक्र एक दफे आया है लेकिन इतिहासकार ताराचंद का कई बार, हर बार यह बताने या फिर संकेत करने के लिए कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से पहले की 'तमाम सदियों में हिन्दी (अर्थात् फारसीयुक्त हिन्दुस्तानी) हिन्दुस्तान की लिंग्वाफ्रांका और सभ्य समाज की भाषा थी, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान' (पृष्ठ-49)। आखीर में आज की हिन्दी के बनने के बारे में अंतिम फैसला भाषाविद् सुनीति कुमार चटर्जी के सहारे सुनाया गया है कि 'ऐतिहासिक एतबार से उर्दू उस चीज की रूपान्तरित मुसलमानियाई हुई शक्ल नहीं जो आज हिन्दी (अर्थात संस्कृतयुक्त खड़ी बोली) के नाम से जानी जाती है। बल्कि मामला इसका उल्टा ही है। वह फारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी जो अठारहवीं शताब्दी के मुगल दरबार में विकसित हुई (और जो उससे पहले दकनी बोली में मिलती है)...उसे हिन्दुओं ने अपनाया...फिर देशी नागरी को अपनाया और बड़ी गाढ़ी संस्कृतयुक्त शब्दावली का प्रयोग आरम्भ कर दिया...और इस प्रकार उन्होंने हिन्दी का स्वरूप निर्धारित किया। यह काम 1800 के आसपास हुआ और विशेषकर कलकत्ता में।'(पृष्ठ-43)

आज की हिन्दी की उत्पत्ति, उसकी राजनीति (साम्राज्यवादी) तथा चरित्र (सांप्रदायिक) की कथा सुनाने के क्रम में ही किताब आरम्भिक उर्दू के जन्म, विकास, विस्तार और आखिर के कुछ पन्नों में विकासमान उर्दू की राह में आई उन रुकावटों का जिक्र छेड़ती है जिनकी वजह से उर्दू अखिल भारतीय लिंग्वाफ्रांका और साझी संस्कृति की वाहक होते-होते रह गई। किताब इसके लिए एक दिलचस्प तरकीर ईजाद करती है, कुछ इस तरह कि जिस भाषा को आज उर्दू कहा जाता है उसके बारे में साबित करने की कोशिश करती है कि उसका पुराना नाम हिन्दी था। किताब की आधार स्थापनाओं में से एक यह है कि 'पुराने जमाने में उर्दू नाम की कोई भाषा नहीं थी। जो लोग 'अर्ली उर्दू' पद का इस्तेमाल करते हैं वे भाषाविज्ञान और इतिहास की

दृष्टि से गलत शब्द बरतते हैं।' (पृष्ठ-11)। लेखक किताब के शुरुआती पन्नों में ही याद दिलाता है कि जिस भाषा को आज हम उर्दू कहते हैं, पुराने जमाने में उसी भाषा को हिन्दवी, हिन्दी, देहलवी, गुजरी, दकनी और फिर रेख्ता कहा गया। ये नाम लगभग उसी क्रम से प्रयोग में आए, जिस क्रम में उन्हें दर्ज किया गया है। यह जरूर है कि इस भाषा का जो रूप दकन में बोला और लिखा जाता था, उसे सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक दकनी ही कहते थे और उत्तर भारत में एक बड़े समय तक रेख्ता और हिन्दी दोनों ही इस भाषा के नाम की हैसियत से साथ-साथ इस्तेमाल होते थे। अंग्रेजों ने इस भाषा के लिए अपनी ईजाद या पसंद के नाम का इस्तेमाल किया।

जाहिर है, इस याददिहानी के बाद किताब में उर्दू का नाम हिन्दी/हिन्दवी के रूप में लिखा गया है और उसका संक्षिप्त विकास-क्रम इन शब्दों में बयान किया गया है -

1. गुजरात में और फिर जल्दी ही दकन में सूफियों ने हमारी भाषा (यानी हिन्दवी) को अपनाया। इससे पहले इस भाषा की कोई साहित्यिक हैसियत न थी।

2. मसऊद साद सलमान (लेखक के अनुसार हिन्दवी के प्रथम लेखक) और इसके बाद अमीर खुसरो ने हिन्दी/हिन्दवी में जो लिखा वह केवल तात्कालिक और प्रासंगिक (कैजुअल) था इसके पीछे कोई परंपरा न थी।

3. चौदहवीं सदी की अवधी में साहित्यिक गतिविधियों (मुल्ला दाऊद की चंदायन 1379) का होना इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी/हिन्दवी उस समय तक साहित्यिक भाषा न बनी थी वरना संभव है कि मुल्ला दाऊद उसे ही अपनाते। उनके समय में तो आलम यह है कि वे अपनी अवधी को ही हिन्दी यानी नर्मदा के ऊपर वाले भाग की भाषा कह रहे हैं। उनकी नजर

'उर्दू का आरम्भिक युग' यह साबित करती है कि 'दिल्ली के रेख्तावालों' की जबान में 'मृदुलता, नफासत और शुद्धता' का जोर सन् 1750 यानी गिलक्राईस्ट के फोर्ट विलियम कॉलेज के करीब पांच दशक पहले ही बढ़ चुका था और वह हिन्दुस्तान के एक बड़े हिस्से में पहुंच चुकी थी।

में हमारी हिन्दवी/हिन्दी का वजूद न था।

4. उर्दू के प्राचीनतम साहित्यिक आलेख गुजरात और फिर खास दकन में वजूद में आए और एक के सिवा बाकी सब सूफियाना हैं।

5. चूंकि सूफी लोगों के श्रोताओं में उनके मानने वाले मुरीद (शिष्य) और श्रद्धालु अधिक संख्या में होते थे, अत: यह स्वाभाविक था कि सूफियों के मुरीद अपने पीर (धर्मगुरु) की बातों और मूल पाठ को विशेष प्रकार से सुरक्षित कर लेते थे।

6. शेख अब्दुल कुद्दुस गंगोही (1455-1538) और संत कबीर (देहान्त 1518) के पहले किसी सूफी ने हिन्दी/हिन्दवी को उत्तर भारत में साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं चुना। लेकिन न तो गंगोही न ही कबीर ने उस खालिस खड़ी बोली में रचना की जो विकास करके आज की उर्दू बनी। शेख गंगोही की भाषा में ब्रज की बहुलता है और कबीर की भाषा में अवधी और भोजपुरी के तत्व दिखायी देते हैं। इससे महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों ही दिल्ली से दूर थे और दिल्ली ही उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता की राजधानी थी।

7. उत्तर भारत में सूफियों की हिन्दी/हिन्दवी के इतने देर से आने का कारण इस बात में छिपा है कि उत्तर भारत में सूफियों ने इस भाषा को अपना अभिव्यक्ति माध्यम बनाने में विलम्ब किया।

8. इस विलम्ब का एक कारण यह समझ में आता है कि उस जमाने में दिल्ली, पंजाब और निकटवर्ती क्षेत्रों में फारसी की जनसाधारण की भाषा नहीं तो लिंग्वाफ्रांका की स्थिति अवश्य थी।(पृष्ठ:89-90)

पुस्तक के अनुसार, इस विकासक्रम में एक निर्णायक मोड़ आता है वली दकनी के साथ। वली दकनी का जन्म 1665-1667 का है और मृत्यु 1707-08 की है। इन वली दकनी ने तत्कालीन उत्तर भारत (जहां फारसी बहैसियत लिंग्वाफ्रांका विराजती थी) के सांस्कृतिक ठिकाने दिल्ली की काव्य-भाषा को नया संस्कार दिया। वे सूफी नहीं बल्कि एक दुनियावी आदमी थे और उनकी कविता भी दुनियावी मिज़ाज की है। सो, सूफियों के माध्यम से धार्मिक बातों के इर्द-गिर्द अबतक होती आई हिन्दवी (प्रकारांतर से दकनी और गुजरी) की काव्य-परम्परा के भीतर उन्होंने एक उलटफेर किया। वे महान कवि थे और पुस्तक के अनुसार अपने वक्त के तमाम रेख्ता कवियों को खुद से कमतर मानते थे। यहां तक कि उन्होंने फारसी के बड़े कवियों को अपना प्रतिद्वन्द्वी या अपने से कमतर माना है। किताब के अनुसार वली खुद ब खुद ही वली दकनी न बन गये थे...हर बड़े कवि का कोई न कोई पथप्रदर्शक होता है और वली ने अपना पथप्रदर्शक हसन शौकी (मृत्यु 1633) को माना है...इसके अतिरिक्त वली ने गुजरी और दकनी दोनों साहित्यिक संस्कृतियों और परंपराओं से फायदा उठाया है' (पृष्ठ-113)। फारुकी साहब सविस्तार इस बात का जिक्र करते हैं

कि वली की भाषा दरअसल 'वही भाषा है जो वली के समय में दिल्ली में बोली जाती थी...' (पृष्ठ-113-114) क्योंकि औरंगजेब और उसकी विशाल सेना ने औरंगाबाद को अपना अड्डा बनाया तो दिल्ली में बोली जाने वाली भाषा यह सेना अपने साथ ले गई। ऐसे में दकनी/हिन्दी/हिन्दवी का एक नया रूप औरंगाबाद और उसके चारों ओर विकसित होने लगा...औरंगाबाद या दकन में औरंगजेब की उपस्थिति उसके राज्यारोहण से पहले की है और देश के इन क्षेत्रों में उसका अभियान उसके पचास वर्षीय शासनकाल (1658-1707) में लगातार जारी रहा। सो, दिल्लीवालों को वली ने दरअसल जो भाषा सौंपी वह उन्हीं की भाषा थी, अन्तर यह कि वली की कविता ने उसे काव्यात्मक ऊंचाई दे दी थी।

किताब के अनुसार, दकनी होकर भी वली ने दिल्लीवालों को उर्दू काव्य-रचना का पाठ पढ़ाया। यह बात दिल्ली के मिर्जाओं को जहर से भी अधिक कड़वी लगी रही होगी। यह घूंट वे पी तो गये परन्तु इसका स्वाद अपने मस्तिष्क से भुलाने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया और यह प्रयत्न अब तक सफल रहा है। 'मीर और काईम ने वली के कारनामे की महत्ता कम करने का पूरा प्रयत्न किया और शाह शाद उल्ला गुलशन वाली घटना गढ़ी।' (पृष्ठ-109) कि दिल्ली के शाह गुलशन ने वली से कहा कि फारसी तर्ज की कविता उर्दू में कहो। शाह गुलशन वाली घटना एक अफसाना भर है। समीक्ष्य पुस्तक 'उर्दू का आरम्भिक युग' वली के कारनामे को इन शब्दों में दर्ज करती है- 'वली का कारनामा यह है कि उन्होंने निश्चित तौर पर और हमेशा के लिए साबित कर दिया कि गुजरी और दकनी की तरह रेख्ता-हिन्दी में भी यह शक्ति है कि वह सब्के हिन्दी (भारतीय शैली) की फारसी कविता से आगे बढ़ सकती है। उपमा एवं रूप-वर्णन हो या रूपकों का

आज की हिन्दी की उत्पत्ति, उसकी राजनीति (साम्राज्यवादी) तथा चरित्र (सांप्रदायिक) की कथा सुनाने के क्रम में ही किताब आरम्भिक उर्दू के जन्म, विकास, विस्तार और आखिर के कुछ पन्नों में विकासमान उर्दू की राह में आई उन रुकावटों का जिक्र छेड़ती है जिनकी वजह से उर्दू अखिल भारतीय लिंग्वाफ्रांका और साझी संस्कृति की वाहक होते-होते रह गई।

विस्तार, परिशुद्धता या जटिलता, विषयगत सुन्दरता हो या अर्थगत, हिन्दी-रेख्ता फारसी से हरगिज कम नहीं...' (पृष्ठ 116-117)

यह बात तो खैर सुप्रसिद्ध है ही कि दिल्ली के मिर्जाओं को अपनी काव्य-भाषा की ऊँचाई पर बड़ा नाज था और इस अदबी एतबार से वे 'अबे-तबे' बोलने वाले के 'गुबार से भी दूर बैठना' बैठना चाहते थे। मिसाल के लिए मीर तकी मीर के दो शेर यहां देखे जा सकते हैं-

1. यों पुकारते हैं मुझे कू-ए-जानां वाले - ऐबे, अबे वो चाक-गरीबां वाले।।

2. बुलबुल ग़ज़ल सराई आगे हमारे मत कर-सब हमसे सीखते हैं, अंदाज़ गुफ़्तगू का।।

दूसरों को गुफ्तगू के अंदाज सिखाने के भाव से प्रेरित दिल्ली के मिर्जा ही समीक्ष्य पुस्तक के अनुसार पहले से चली आ रही लोक-प्रचलित हिन्दवी को फारसी की तरफ झुकाने के दोषी हैं। 'उर्दू का आरंभिक युग' हिन्दवी के फारसीनिष्ठ होने की प्रक्रिया समझाते हुए तर्क देती है कि वली दकनी की कविता ने दिल्ली के तत्कालीन अदबी इदारे में सक्रिय शायरों को बल प्रदान किया और एक 'परायी भाषा' यानी फारसी से पीछा छुड़ाने में मदद की, तो भी, दिल्लीवालों के दिल पर फारसी का असर कायम था। सो, सत्रहवीं सदी के अंतिम समय में जो युवा साहित्यकार रेख्ता (मतलब हिन्दवी/उर्दू) को अपना रहे थे वे फारसी में शेर कहना रेख्ता की बनिस्पत कहीं ज्यादा आसान समझते थे। किताब के अनुसार, चूंकि रेख्ता में शेर कहना उनके लिए एक ऐसे महाद्वीप में यात्रा करने सरीखा था जिसका पूरा मानचित्र अज्ञात था, सो जरूरत ऐसे व्यक्तियों की थी जो उन्हें रेख्ता में शाइरी के गुर सिखाये। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए शागिर्दी-उस्तादी की संस्था अस्तित्व में आई। इस संस्था ने दिल्ली में 'नयी हिन्दी/रेख्ता' शाइरी की नींव रखी और इस तरह दिल्ली की कविता लोकप्रचलित हिन्दवी से अपनी यात्रा शुरू करके अशराफी यानी फारसीनिष्ठ होती गई। सो, आज की उर्दू को लोकप्रचलित हिन्दवी से अलगाकर अशराफी उर्दू बनाने का सारा दोष दिल्लीवालों का ही है। किताब के अनुसार, 'अठारहवीं सदी के अंत में उर्दू की साहित्यिक संस्कृति में एक खेदजनक रुचि का आविर्भाव होता है। भाषाशुद्धि के नाम पर एक तरह के मूलतत्त्ववाद का प्रचार किया जाने लगा। भाषा के सुधार और भाषा के विकृत/अप्रिय तत्त्व के विरेचन की बात होने लगी...।' (पृष्ठ-130)

किताब इस निष्कर्ष पर समाप्त होती है, भले ही आगे कुछ शब्दों में उर्दूभाषा के भीतर दिल्ली स्कूल और लखनऊ स्कूल के अस्तित्व में आने का जिक्र है। विचित्र यह कि लेखक आखिर-आखिर तक उर्दू के फारसीनिष्ठ होने को लेकर कोई स्पष्ट निष्कर्ष नहीं निकाल पाया है। उर्दू का फारसीनिष्ठ होते जाना उसे खेदजनक तो लगता है लेकिन साथ ही वह यह भी

लिखता है कि अठारहवीं सदी के अंत में फारसीवालों के अनुकरण का जो 'प्रतिक्रियावादी' दौर शुरू हुआ वह 'उर्दू की साहित्यिक संस्कृति के इतिहास की ऐसी पहेली है जिसका समाधान अभी तक नहीं हुआ है बल्कि यों कहें तो गलत न होगा कि इस पहेली के अस्तित्व से ही हम अनभिज्ञ रहे हैं तो फिर इसका समाधान कहां से ढूंढ़ते...'। (पृष्ठ-126) भाषा शुद्धि के प्रयासों को प्रतिक्रियावादी कहने के बावजूद उसके कारणों को एक पहेली कहना दरअसल किताब की राजनीतिक योजना की अनिवार्य परिणति है।

याद करें कि किताब की शुरुआत कैसे होती है। शुरुआत में ही आरंभिक उर्दू के साहित्येतिहास पर छाये घटाटोप को रेखांकित करते हुए किताब को इसे हटाने के लिए हिन्दी-उर्दू के संबंधों को सुलझाना सबसे ज्यादा अहम लगता है और हिन्दी-उर्दू के रिश्ते का उलझाव इस निष्कर्ष से सुलझाया जाता है कि दरअसल पुराने वक्तों में हिन्दी (आधुनिक) थी ही नहीं, जो कुछ था उसे आधुनिक उर्दू का पूर्वज यानी हिन्दवी कहा जा सकता है। जब किताब का अंत होता है तो निष्कर्ष यह निकलता है कि चली आ रही हिन्दवी में खेदपूर्ण रुचि यानी उसके फारसीनिष्ठ होने की शुरुआत 18 वीं सदी के आखिर में दिल्ली में हुई। इस तरह किताब हिन्दवी के बरअक्स दोहरे अन्य की रचना करती है। एक तो स्वयं 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेज हाकिम के भाषाई-विवेक से पैदा हिन्दी और दूसरा स्वयं फारसी। लेखक इस बात को लेकर आगाह है कि अमृत राय की पुस्तक (अ हाऊस डिवाइडेड-ऑरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑव हिन्दी-उर्दू) राष्ट्रवादी आख्यान के भीतर हिन्दी-उर्दू झगड़े को पढ़ती और इस भाषाई झगड़े के भीतर देश के विभाजन के झगड़े की झलक देखती है। अमृत राय की नजर में फारसीनिष्ठ उर्दू का बनना स्वयं में एक त्रासदी से कम नहीं और पहले से चली आ

तैयब मेहता की एक कलाकृति

रही एक मिलवां भाषा के बीच बंटवारे की वजह अंग्रेज हाकिम नहीं बल्कि 18 वीं सदी के पतनोन्मुख मुगल-दरबार से जुड़े लोग (मिसाल के लिए शाह हातिम और इनसे पहले दिल्ली के शाह गुलशन की फारसी सलाह को मानकर नये तर्ज की कविता करने वाले वली दकनी) हैं। आश्चर्य नहीं कि किताब में अमृत राय की इस स्थापना का जिक्र चंद लफ्जों में आया है और अफसोस के स्वर में कहा गया है कि 'शाह हातिम की कार्यसूची का नकारात्मक पहलू ही भविष्य के इतिहासकारों को नजर आया। इस तरह हातिम की सकारात्मक कोशिश को, जो एक इहलौकिक, आधुनिक, सभ्य समाज की मुहावरेदार भाषा (अर्थात एक ऐसी भाषा जो शिक्षण के स्तर पर खरी उतरे, लेकिन बोझिल न हो) के पक्ष में थी इस्लाह जबान (भाषा सुधार) का अभियान बताया गया और हातिम को बैठे-बैठाए भाषा का संशोधक मान लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अमृत राय जैसे लोगों ने एक कदम आगे बढ़कर इसे हातिम बल्कि तमाम उर्दू साहित्यिक संस्कृति के बहिष्कारवाद का द्योतक माना।'

पुस्तक वली दकनी के बारे में कह आई है कि उन्होंने रेख्ता की शाइरी को एक परायी भाषा (फारसी) से मुक्ति दिलाने का काम किया, सो उत्तर भारत में उर्दू के

फारसीनिष्ठ होने का कारण वली दकनी की कविता में नहीं खोजा जा सकता। लेकिन उस्तादी-शागिर्दी की संस्थाओं के जन्म लेने के बाद इस्लाह के नाम पर उर्दू भाषा के भीतर जो प्रयास हुए, उनके बारे में लेखक की राय है कि यह तो दरअस्ल सभ्य समाज की जरूरतों के लायक भाषा को गढ़ने की कोशिश थी, सो दोष शाह हातिम जैसों का भी नहीं क्योंकि वे वली की भाषा से दिल्ली की भाषा का अन्तर तो स्थापित करना चाहते थे लेकिन उनकी कोशिश यह भी थी कि शेर की जबान को दिल्ली के मिर्जाओं से स्वतंत्र और सामान्य लोगों की भाषा के अनुरुप किया जाय (मजेदार यह भी है कि समीक्ष्य पुस्तक शाह हातिम की कोशिश को सभ्य समाज की जरुरतों के लायक भाषा गढ़ने की कोशिश मानती है लेकिन भारतेन्दु-मंडल द्वारा गढ़ी जा रही हिन्दी को यही छूट देने के लिए तैयार नहीं है)। सवाल उठता है, शाह हातिम की यह सकारात्मक कोशिश क्यों कामयाब नहीं हुई? किताब का उत्तर है-'यह अनसुलझी पहेली है।'

'अनसुलझी पहेली' कहते ही एक साथ दो बातें होती हैं- वली दकनी और शाह हातिम जैसे पात्र अगर किन्हीं कारणों से अमृत राय की किताब में भाषाई झगड़े के भीतर 'खलनायक' हैं तो 'उर्दू का आरम्भिक युग' में इसके उलट नायक बन जाते हैं। यह बात तनिक भी नहीं आने पाती कि दिल्ली के मिर्जाओं को क्योंकर हिन्दवी का फारसीनिष्ठ रूप अपनी आत्मछवि के अनुकूल लगा या फिर आगे 19वीं सदी में क्यों यही फारसीनिष्ठ उर्दू मुसलिम-मानस के भीतर अपने को एक कौम के रूप में देखने का सहारा बनी। दूसरे, चूंकि किताब की मंशा आज की हिन्दी को उसकी प्राचीनता के दावे से अलगाकर अनुकरण में तैयार (इसलिए नकली) की गई भाषा के रूप में स्थापित करने की है, सो यह काम समीक्ष्य पुस्तक में फारसीनिष्ठ उर्दू के बारे में यह बताकर किया गया है कि आधुनिक

शुरुआत में ही आरंभिक उर्दू के साहित्येतिहास पर छाये घटाटोप को रेखांकित करते हुए किताब को इसे हटाने के लिए हिन्दी-उर्दू के संबंधों को सुलझाना सबसे ज्यादा अहम लगता है और हिन्दी-उर्दू के रिश्ते का उलझाव इस निष्कर्ष से सुलझाया जाता है कि दरअसल पुराने वक्तों में हिन्दी (आधुनिक) थी ही नहीं, जो कुछ था उसे आधुनिक उर्दू का पूर्वज यानी हिन्दवी कहा जा सकता है।

संस्कृतनिष्ठ हिन्दी इसी की नकल है।

किताब में हिन्दी की प्राचीनता के खंडन की ऐसी हड़बड़ी है कि वह ताराचंद की पुस्तक 'द प्रॉब्लम हिन्दुस्तानी' के सहारे हिन्दी को फारसीनिष्ठ उर्दू की अनुकृति बताते हुए (और इसी क्रम में उर्दू को एक स्वतंत्र भाषा और उसका पुराना नाम हिन्दी अथना हिन्दवी साबित करते हुए) ताराचंद की इस जरूरी बात का उल्लेख करना जायज नहीं समझती कि हिन्दी अथवा हिन्दवी का प्रयोग कई अर्थों में होता था जिसमें तीन प्रमुख हैं। (1) हिन्दी अथवा हिन्दवी का प्रयोग अभारतीय चीजों के बरक्स भारतीय चीजों को अलगाने के लिए, जैसे मुहम्मद औफी का अपने कविता-संकलन में ख्वाजा मसूद साद सलमान को हिन्दी (फारसी के बरक्स) का कवि बताना। (2) हिन्दी शब्द का प्रयोग बुन्देली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बंगारु, खड़ीबोली, अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी के साथ-साथ राजस्थानी और मगही जैसी नवीन इंडो-आर्यन भाषाओं के लिए और (3) हिन्दुस्तानी, खड़ी बोली अथवा देहलवी बोली के आधुनिक साहित्यिक रूप के अर्थ में। हिन्दी शब्द के ये तीन प्रयोग बताने के बाद ही ताराचंद लिखते हैं कि 'हिन्दी पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी में शामिल बहन-बोलियों (सिस्टर स्पीचेज) से आधुनिक हिन्दी अलग और उर्दू के समान (आइडेंटिकल) है।'

उपर्युक्त तीन तरह के प्रयोगों में से दो प्रयोगों पर ध्यान दें तो मुल्ला का पहले दाऊद के 'चंदायन' के बारे में यह कहना कि वे अपने समय में सचेत रूप से अवधी में लिख रहे थे न कि हिन्दी में और कबीर तथा अब्दुल कुद्दूस गंगोही के बारे में यह कहना कि उनकी रचना हिन्दी की नहीं क्योंकि उसमें ब्रज, अवधी और भोजपुरी की बहुलता दिखायी देती है। (जैसा कि 'उर्दू का आरम्भिक युग' में कहा गया है), मुश्किल हो जाएगा। ऐसे में पुस्तक की आधार-स्थापना कि उर्दू का पुराना नाम हिन्दी या हिन्दवी है, सो प्राचीनता का दावा उर्दू का बनता है न कि आधुनिक हिन्दी का, खतरे में पड़ जाती है। ध्यान रखने की बात यह है कि आधुनिक हिन्दी का साहित्येतिहास लेखक (जैसे रामस्वरुप चतुर्वेदी) 'हिन्दी' शब्द के उपर्युक्त बहुविध प्रयोगों को ध्यान में रखकर हिन्दी साहित्य की प्राचीनता का दावा करता है। वह पुराने वक्तों की हिन्दी को प्राकृत, पालि या अपभ्रंश से अलगाने के लिए 'परसर्गों के उदय' का प्रस्ताव करता है- 'परसर्गों का रूप नाथों की बानियों में दिखायी देने लगता है- पिण्ड तैं ब्रह्माण्ड, मनवा नैं, कहां सूं, नग्री मैं, हम कौं। इन बानियों का समय हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 1000 ईस्वी के आसपास स्थिर किया है...' (देखें- रामस्वरूप चतुर्वेदी-हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास)। परसर्ग के उदय के आधार पर ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखक ताराचंद द्वारा बतायी तमान बोलियों में हुई रचनाओं को हिन्दी की रचना मानता है। हिन्दी की प्राचीनता के

दावे के खंडन के लिए इस प्रस्ताव का खंडन जरूरी है न कि यह देखना कि उसमें फारसीनिष्ठ उर्दू की तर्ज पर संस्कृत के शब्द और मुहावरे कितने हैं, जैसा कि ताराचंद या फिर फारुकी साहब के लेखन की अंतर्निहित मान्यता है।

समीक्ष्य पुस्तक पहले से ही हिन्दवी या हिन्दी के ऊपर यह अतिरिक्त जिम्मेदारी आयद करके चलती है कि वह साम्प्रदायिक एकता की भाषा थी और लोक-प्रचलित थी। मिसाल के लिए पुस्तक की यह पंक्ति- 'गुजरी शताब्दियों में क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभ्य समाज की भाषा और सारे देश की लिंग्वाफ्रांका (सामान्य भाषा) हिन्दी अर्थात फारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) थी न कि वह आधुनिक हिन्दी जो संस्कृतयुक्त हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) है।' ऐसी मान्यता के कारण समीक्ष्य पुस्तक इस ऐतिहासिक तथ्य की अनदेखी करती है कि अंग्रेजों के आने के पहले भी हिन्दी/हिन्दवी का वह साहित्यिक रूप जो सूफियों की बानियों के रुप में फारसी लिपि में लिखा था रहा था और जिसे फारुकी साहब उर्दू की पूर्वजा बताना चाहते हैं, स्वयं साम्प्रदायिक अलगाव का भी एक साक्ष्य हो सकती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक तथ्य यह भी है कि जिस वक्त वली दकनी की मृत्यु होती है तकरीबन उसी वक्त कवि भूषण अपने शिवराज भूषण में खड़ी बोली (समीक्ष्य पुस्तक के अनुसार, वह भाषा जिसमें सूफियों की बानी लिखी गई है) से आगाह होने का साक्ष्य देने के बावजूद ब्रजभाषा में कविता करते हैं। क्या यह तथ्य संकेत नहीं देता कि कवि भूषण के वक्त तक हिन्दी/हिन्दवी का एक रूप मुसलमानी मान लिया गया था और हिन्दी की विभिन्न बोलियों में लिखने वाले कुछ कवि, जो आज हिन्दी के कवि कहलाते हैं, इस रूप से स्वयं को अलगा रहे थे। इस संदर्भ में भूषण की कविता का एक उदाहरण गौर करने लायक है-

'पंज हजारिन बीच खड़ा किया मैं उसका कुच्छ भेद ना पाया।

भूषण यों कहि औरंगजेब उजीरन सों बेहिसाब रिसाया।।

कम्मर की न कटारी दई इस्लाम ने गोसलखाना बचाया।

और सिवा करता अनरत्थ भली भई हत्थ हथियार न आया।'

हिन्दी/हिन्दवी का वह रूप जो सूफियों की बानियों के भीतर तैयार हुआ उससे हिन्दी/हिन्दवी की शेष कविता (ब्रज, अवधी आदि) को अलग रखने की वजह भाषा के भीतर नहीं बल्कि तत्कालीन सांस्कृतिक संघर्ष में है। चाहे आज के संदर्भों में बात राजनीतिक रूप से जितनी नाजायज लगे लेकिन हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस संघर्ष को दर्ज करती पंक्ति बड़े विवादों के बावजूद आजतक मौजूद है- 'मलेच्छाक्रांतेषु देशेषु पापैकनिलयेषु, च सत्पीड़ा व्यग्र लोकेषु, कृष्णएव गतिर्मम..।' समीक्ष्य पुस्तक यह नोट करती है कि 'हिन्दी हिन्दवी देहलवी का सौभाग्य था कि उसे शुरू से ही फारसी लिपि उपलब्ध थी। यह इसलिए हुआ कि इस भाषा का साहित्यिक प्रयोग सबसे पहले मुसलमानों ने किया।' फारूकी साहब द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का इस्तेमाल करते हुए पूछें तो क्या जो लोग देश को मलेच्छाक्रांत मानते थे उनके लिए हिन्दवी को ना अपनाने के लिए यही कारण पर्याप्त ना था कि उसका पहला प्रयोग मुसलमानों ने किया, और यह अलगाव फारसी लिपि को अपनाने के कारण और भी ज्यादा देखार था? विचार इस बात पर भी किया जाना चाहिए कि क्या पुराने समय में जिन कवियों ने अपने को हिन्दवी से अलग रखा उनके लिए यह बात कहीं से मानीखेज और निर्धारक नहीं रही होगी कि हिन्दवी का तत्कालीन साहित्य धार्मिक प्रेरणाओं (इस्लाम) की उपज है। उर्दू का आरम्भिक युग में इस तथ्य को नोट किया गया है कि हिन्दी/हिन्दवी में 'साहित्य रचना आरम्भ होने के लिए किसी प्रकार की धार्मिक भावना की प्रेरणा शायद हमेशा आवश्यक रही है...' (पृष्ठ-91)

'उर्दू का आरम्भिक युग' यह बताना जरूरी समझती है कि उर्दू शायरी के कुछ उस्ताद हिन्दू भी रहे हैं लेकिन कुछेक ब्राह्मणों और कायस्थों के फारसी पढ़ने-लिखने के तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि धर्मगत विभाजन का भाव पुराने वक्तों में समाज के हर गोशे से मिट चला था और हिन्दवी (फारसी लिपि में लिखी) के भीतर हिन्दू-मुस्लिम दोनों के लिखत-पढ़त की मौजूदगी साझी संस्कृति के बनने का अकाट्य प्रमाण है। 'उर्दू का आरम्भिक युग' की अंतर्निहित मान्यता का कमजोर पक्ष यही है। एक विवादपरक स्थापना को स्वीकार करके चलने के कारण पुस्तक उर्दू के आरम्भिक युग के संधान में निकलती तो बड़ी तैयारी के साथ है, लेकिन' भाषाई इतिहास की जटिलताओं के साथ किताब में इंसाफ होते-होते रह जाता है। ✱

(लेखक हिंदी के आलोचक हैं।)

'उर्दू का आरम्भिक युग' यह बताना जरूरी समझती है कि उर्दू शायरी के कुछ उस्ताद हिन्दू भी रहे हैं लेकिन कुछेक ब्राह्मणों और कायस्थों के फारसी पढ़ने-लिखने के तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि धर्मगत विभाजन का भाव पुराने वक्तों में समाज के हर गोशे से मिट चला था और हिन्दवी के भीतर हिन्दू-मुस्लिम दोनों के लिखत-पढ़त की मौजूदगी साझी संस्कृति के बनने का अकाट्य प्रमाण है।

समीक्षा

'कौन जीता है तेरी जुल्फ के सर होने तक' अर्थात् 'निर्वासन'

■ जितेंद्र श्रीवास्तव

हम एक ऐसे समय में हैं, जब 'निर्वासन' कुछ लोगों के लिए जीवन की शर्त है और कुछ लोगों के लिए सुविधा। यह एक भूमण्डलीकृत समय और समाज की वह सच्चाई है जो उच्चवर्गीय जीवन के लिए 'उपहार' और निम्नवर्गीय जीवन के लिए 'कांटों का हार' है। यह एक ऐसा विषय है जो कथाकारों को आकर्षित करता रहा है लेकिन सिर्फ आकर्षण और विकर्षण से रचना का सृजन संभव नहीं है। एक बड़े उपन्यास के लिए और कदाचित अपने समय को ठीक ढंग से पहचानने और रेखांकित करने के लिए प्रतिभा भी चाहिए। एक ऐसी प्रतिभा जो जीवन के जादू को सर्वोपरि समझती हो और उसे किसी अन्य जादू में बिला न देती हो। अखिलेश की कहानियां इस बात का प्रमाण हैं कि उनका कहानीकार विचलन का नहीं, संतुलन का आग्रही है। वह कहानी खोजने दूर देश नहीं जाता। वह अपने समाज का किस्सागो है.....उसके सांवले चेहरे, सुख की सिहरन, आदि से अन्त तक पसरी हुई लम्पटता, अनथक संघर्ष, छोटी-छोटी चालाकियां और अकुण्ठ प्रेम को वाणी और शब्द देता हुआ।

वर्षों पहले अखिलेश ने एक उपन्यास लिखा था- 'अन्वेषण'। उसकी ठीक-ठाक चर्चा हुई थी। अब उनका नया उपन्यास आया है- 'निर्वासन'। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह एक बहुप्रतीक्षित उपन्यास है। अखिलेश के प्रशंसकों और हिन्दी समाज में उनके इस उपन्यास को लेकर सुगबुगाहट लम्बे समय से थी। इसके कुछ अंश/अध्याय पिछले वर्षों में कुछ पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। अब जब यह पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है तब यह देखना सुखद है कि यह एक बड़े कलेवर का उपन्यास है। पच्चीस अध्याय इसकी कथा को अपने कन्धे पर उठाए हुए हैं- पूरी मजबूती के साथ। अपनी पूरी बुनावट में यह उपन्यास न सिर्फ गझिन है बल्कि कहीं कोई फन्दा किसी गलत घर में नहीं पड़ा है। लेकिन इतनी प्रशंसा के बाद यह एक स्वाभाविक प्रश्न होगा कि आखिर इस उपन्यास में है क्या? आखिर वे कौन से तत्व हैं, जो कथाकार से इस उपन्यास को लिखवा ले गए हैं? तो आइए, देखते हैं कुछ बातें उपन्यास की भीतरी दुनिया से।

'निर्वासन' ठेठ अर्थ में न तो 'वर्तमान' का उपन्यास है और न ही 'अतीत' का। वह किसी यांत्रिक अर्थ में भविष्य का भी उपन्यास नहीं है। इन तीनों के बीच कथा की आवाजाही में अप्रत्याशित तनाव और गति है। उपन्यास का आरम्भ जिस 'मौत का मज़ाक' शीर्षक पहले अध्याय से हुआ है वह निरा वर्तमान है लेकिन उसकी एक डोर अतीत में (सुल्तानपुर) और दूसरी भविष्य (जीविका का स्थायित्व) में है। वर्तमान बीच में एक नट की भांति नाच रहा है। इस नृत्य में कुशलता नहीं, विवशता है। उपन्यास का आरम्भ इस बात का संकेतक है कि 'इच्छित जीवन की प्राप्ति' जीवन की पूर्णता का पर्याय नहीं है और 'जीवन की पूर्णता' सत्य से अधिक सत्य का भ्रम है। और यहीं यह रेखांकित करते चलें कि ये संकेत दार्शनिक/आध्यात्मिक नहीं, ठेठ भौतिक और दुनियावी हैं।

उपन्यास के आरम्भ में ही अखिलेश की किस्सागोई और शब्द विदग्धता का पता मिल जाता है। उन्होंने जिस ढंग से सम्पूर्णानन्द 'वृहस्पति' का चित्र खींचा है, वह उनकी किस्सगोई और जटिल भारतीय सामाजिक संरचना की बारीक समझ का उदाहरण है। यह समझ आगे के अध्यायों में (विशेषकर जगदम्बा

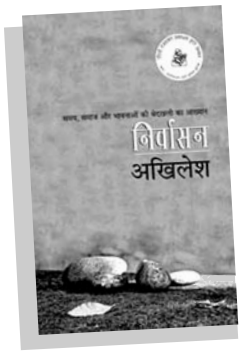

पुस्तकः निर्वासन
लेखकः अखिलेश
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्षः 2014
मूल्यः ₹600

और अमेरिका पांडे के सन्दर्भ में) और अधिक तीक्ष्ण रूप में दिखायी देती है। बहरहाल, सम्पूर्णानन्द 'वृहस्पति' का एक चित्र आप भी देखें- 'संपूर्णानन्द 'वृहस्पति' का मस्तिष्क बाथरूम में बहुत उर्वर हो जाता था। उनके जीवन के तमाम महत्वपूर्ण निर्णय, दांव, कूटनीति, स्वप्न, कार्यक्रम आदि बाथरूम में ही जन्मे थे और वहीं पर उन्होंने इन सबको स्वरूप दिया था। यही नहीं, हनुमान जी की गदा, पूजा-स्थलों, स्थापत्यों आदि के बारे में उनकी अनेक मान्यताएं और स्थापनाएं अध्ययन तथा शोध का परिणाम न होकर बाथरूम का सहज उपहार थीं। इस प्रकार की उपलब्धि होने पर वह एक दिव्य स्नान करते थे और धुले साफ कपड़ों में निकल कर उक्त मानसिक खाक़े को साकार करने की दिशा में जुट जाते थे। बाथरूम से निकलने के बाद उनकी जबान और दिमाग़ औसत से कई गुना अधिक तेज चलने लगते थे।'

यहां सम्पूर्णानन्द 'वृहस्पति' एक प्रतीक हैं उस वर्ग के जो आज भी जाति उच्चता, जातिवाद और धार्मिक श्रेष्ठता में ही जीवन का सार ढूंढते हुए अपने निजी फायदे के लिए नीचता की किसी भी हद तक जा सकता है। यह अकारण नहीं है कि वह उपन्यास 'वर्ग उच्चता' ही नहीं, समूची जाति व्यवस्था को खारिज करता है। सूर्यकांत का गौरी से विवाह करना और उसे अपने जीवन में सर्वोच्च स्थान देना जाति व्यवस्था और कुलीनता का निर्णायक प्रत्याख्यान है। सूर्यकांत अपने पिता की इच्छा के विपरीत, उनसे अपमान सह कर भी अपनी मित्र गौरी (जिसकी नानी के कुल का पता नहीं, जिसके नाना सर्कस में जोकर थे और जिसके पिता उड़िया हैं) से विवाह करता है। निर्वासन के तर्क से देखें तो यहां सूर्यकांत अपनों से निर्वासित हो जाता है और गौरी अपनी तमाम कोशिशों के बाद भी एक निर्वासित प्रेमी/पति की प्रिया है। वह निर्वासन वर्ण व्यवस्था के दम्भ रूपी अंधेरे कुएं ने दिया है जो कालान्तर में एक दिन एक थके हुए कुत्ते की तरह रिरियाता हुआ मिलता है लेकिन तब तक निर्वासन का अंधेरा गहरा हो चुका है। कई बार लौटने की उत्कट लालसा भी व्यक्ति को पूरी तरह लौटा नहीं पाती।

यदि इस उपन्यास की कथा बताना चाहें तो कह सकते हैं कि यह सूर्यकांत के जीविकाविहीन (पर्यटन निदेशालय की अपनी नौकरी से) होने की सम्भावना से शुरू होता है, फिर सूरीनाम से (अब अमेरिका में स्थापित) आए रामअजोर पांडे (जिन्हें बाद में कई स्थलों पर अमेरिका पांडे कहा गया है) द्वारा भारत में अपनी जड़ों को तलाशने की प्रक्रिया के साथ आगे बढ़ता है और इसके बीच में सूर्यकांत और उसके चाचा का लम्बा-चौड़ा अतीत और वर्तमान इस उपन्यास को गति देता है। जगदम्बा की उपस्थिति इस उपन्यास को अर्थपूर्ण बनाती है और इसके अभिप्राय का सृजन करती है। इस उपन्यास का अन्त किस्से-कहानियों की तरह नहीं, जीवन की तरह स्पष्ट और उसी की तरह उलझा हुआ है। पांडे के समक्ष सूर्यकांत उसकी जड़ों का इतिहास रख देता है लेकिन पांडे स्वीकार नहीं कर पाता। उसके सूरीनाम में बसे बाबा का नाम भगेलू पांडे था और सूर्यकांत जिस (जगदम्बा के) परिवार के उसके बाबा के भारतीय परिवार होने की संभावना जता रहा है, वह प्रजापति (कुम्हार) है। भगेलू पांडे से रामअजोर पांडे तक लम्बी अवधि गुजर चुकी है लेकिन पांडे के भीतर जाति श्रेष्ठता जस की तस है। वैसे उपन्यासकार ने विडम्बना को गहरा और उद्देश्यपूर्ण बनाने के लिए उसके बाबा के सूरीनाम प्रस्थान पर एक पूरा अध्याय लिखा है जिसमें बिना किसी लाग-लपेट के अंकित है कि बाबा जब भयानक अकाल के दिनों में गोसाईंगंज से चले थे तो प्रजापति ही थे लेकिन कलकत्ते में सूरीनाम जाने के ठीक पहले भ्रमवश पांडे हो गए और फिर दुबारा प्रजापति होने का प्रश्न ही नहीं था। लेखक ने इससे जुड़ा एक रोचक प्रसंग सृजित किया है। जब पोता एक दिन बाबा को पाटर कहता है तो बाबा को पसीना आ जाता है। पूरा प्रसंग इस प्रकार है-'उनके झक्कीपन का दूसरा नमूना यह था कि पोते के पास एक से एक बढ़िया खिलौने थे। लेकिन वह खुद से खिलौने बना कर उसे देते थे। अजीब सनक थी : किसी दिन अलस्सुबह घर से निकल जाते थे और जाने कहां कहां से भटक कर मिट्टी लेकर लौटते थे। उस पल खुशी और उनका जोश देखते बनता था।

'निर्वासन' ठेठ अर्थ में न तो 'वर्तमान' का उपन्यास है और न ही 'अतीत' का। वह किसी यांत्रिक अर्थ में भविष्य का भी उपन्यास नहीं है। इन तीनों के बीच कथा की आवाजाही में अप्रत्याशित तनाव और गति है।

कहते 'बहुत बढ़िया माटी है।' अपनी उंगलियों के कौशल से वह मिट्टी से तरह तरह के खिलौने बना देते। सीढ़ी, चूहे, हाथी, तलवार, गिलास, तश्तरी, बटुली, चूल्हा आदि बनाकर वह रामअजोर को देते थे। पूछते : कैसे बने हैं ये? 'बहुत अच्छा।' वह अफसोस करते : 'मैं काफी उम्दा बरतन और खिलौने गढ़ सकता हूं - पर मेरे पास चाक नहीं है न।'

'आप बरतन भी बना लोगे?' पोता चकित था।

'हां ।'

'क्या-क्या बनाना जानते हो?'

'सभी तरह के मिट्टी के बरतन।'

'जैसे?'

'जैसे सुराही, गागर, परई, हंड़िया, मेटा..... सभी कुछ।'

'तुम पूरे पाटर हो बाबा।' पोता खुशी से चिल्लाया।'

'पाटर क्या?' बाबा का प्रश्न था।

'कुम्हार। तुम पूरे कुम्हार हो बाबा।'

बाबा के चेहरे पर भय की मक्खियां उड़ने लगीं और पूरे शरीर में गड़बड़ महसूस होने लगी। वह चुप हो गए थे। वैसे ही खामोश बने रहे फिर अचानक उठ कर भारी कदमों से चले गए।'

जाहिर है, लेखक इन छोटे-छोटे प्रसंगों के माध्यम से अपने पाठकों को जीवन और समाज के बड़े सन्दर्भों की ओर ले जाता है। निर्वासन को लेकर इस उपन्यास में एक बहस भी है जो चाचा-भतीजे के बीच है। याद रहे, 'भतीजा' सूर्यकांत है। यहां यह भी याद करना जरूरी है कि लेखक ने नायक की कोई जाति नहीं बतायी है लेकिन 'गौरी प्रसंग' इस बात का संकेतक है कि वह उच्चवर्गीय है अन्यथा गौरी का सूर्यकांत के पिता के द्वारा उस तरह अपमान नहीं होता, जैसा कि उपन्यास में चित्रित है। फिर भी नायक को जातिविहीन करने की सायास कोशिश इस उपन्यास की एक उपलब्धि है। जहां तक

इसकी एक विशेषता यह भी है कि यह पाठक को आतंकित नहीं, आमंत्रित करता है और अंतिम क्षण तक मित्रता का निर्वाह करता है।

निर्वासन का प्रश्न है तो इसके कई स्तर हैं। एक निर्वासन भगेलू का था। वे नियति की डोर थामे सूरीनाम पहुंच गए। भारत में छूट गए परिवार के लिए जीवन भर हुटुकते रहे। एक निर्वासन सूर्यकांत का है, जो उसके भीतर समा गया है। एक निर्वासन चाचा का है जो लोगों को सनक से भरा लगता है। इसके ठीक विपरीत एक निर्वासन की आकांक्षा शिब्बू और सूर्यकांत के बहनोई में है जिसे वे अपने लिए सृजित करना चाहते हैं। सूर्यकांत अपने ही परिवार में पुन: लौटकर 'भरता' नहीं है बल्कि और 'रीत' जाता है। वह मां और अन्य सदस्यों से मिली गठरी को ट्रेन से नीचे गिरा देता है लेकिन अंत:करण में बंधी गठरी बार-बार खुल जाती है। वह वर्तमान के उजाले में आना चाहता है लेकिन निर्वासन के अंधेरे में खो जाता है।

भारतीय सामाजिक संरचना में जाति व्यवस्था की रुधिर उपस्थिति को कथा-तत्व के निर्वाह के साथ-साथ अखिलश ने जिस प्रकार चित्रित किया है, वैसा हाल के वर्षों में हिन्दी उपन्यासों में दिखायी नहीं देता है। यहां जाति का प्रश्न तथाकथित उच्च जातियों के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है, उसकी व्याप्ति हवा और पानी की तरह समूचे समाज में है। अखिलेश ने इस असाध्य रोग की बारीक पड़ताल की है। लम्बी जुदाई के बाद सूर्यकांत अमेरिका पांडे के पूर्वजों/परिजनों की खोज में जब पुन: सुल्तानपुर पहुंचता है और कॉमरेड कोमल की दुकान की खोज करता है तो उस प्रक्रिया में हिन्दी समाज की असहिष्णुता और जातिवादी मानसिकता का एक खुलासा होता है। सूर्यकांत को कॉमरेड कोमल की दुकान के स्थान पर प्रॉपर्टी डीलर का दफ़्तर मिलता है। आगे की घटना उपन्यास में इस प्रकार है- 'सूर्यकांत प्रॉपर्टी डीलर से मिला- 'यहां पहले कॉमरेड कोमल की दुकान थी?'

'हां थी?'

'मेरे पूछने का मतलब है कि कॉमरेड अब कहां हैं?'

'ऊपर वाले के यहां।' डीलर ने हथेली हवा में लहरायी- 'उन्हें मरे कुछ साल हो गए।'

सूर्यकांत को धक्का लगा। उसने अगला सवाल किया- 'आप उनके परिवार से हैं?'

डीलर ने आंखें तरेरीं- 'मैं तुमको तेली दिखायी देता हूं?'

'मैं समझा नहीं।'

'फालतू में मेरा टाइम खराब कर रहे हो।' वह बड़बड़ाने लगा-'सरयूपारी ब्राह्मण को तेली खानदान का बता रहे हो।'

अखिलेश बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के जातिवादी मानसिक बुनावट को स्पष्ट कर देते हैं। इसके लिए वे समाज-विज्ञानों की ओर नहीं जाते। वे अपने उपन्यास में न तो विमर्श-विमर्श खेलते हैं और न ही विमर्शों के सहारे उपन्यास को प्राणवायु देते हैं। इसके उलट 'निर्वासन' नामक यह उपन्यास भारतीय समाज में चल रहे कई विमर्शों को हवा-पानी देता है। यह हिन्दी समाज की आचरण-लीला

को बिना किसी लुकाव-छिपाव के सामने रख देता है और इस प्रकार सभ्यता समीक्षा का दायित्व पूरा करता है। इस उपन्यास के विवरणों में राजनीति और संस्कृति के अनेक प्रश्न और प्रसंग अन्तर्गुम्फित हैं। हास्य सृजन के बीच इमरजेन्सी पर मारक व्यंग्य है। अज्ञानी भतीजे के सामने जिस प्रकार इण्टर कॉलेज के शिक्षक और प्रिंसिपल लाचार हैं और गिड़गिड़ा रहे हैं, इमरजेन्सी में पूरे देश की वही हालत थी। अखिलेश ने इमरजेन्सी के पूरे प्रकरण को रोचक, प्रभावी और विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया है।

इस उपन्यास में चित्रित चाचा और बलवंत कौर का प्रेम प्रसंग 'कॉमेडी' से अधिक 'ट्रेजडी' का सृजन करता है। इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुए सिक्खों के नर-संहार का हृदय विदारक चित्रण इस उपन्यास में है। ऐसे प्रसंगों में अखिलेश अपनी ओर से बहुत कुछ नहीं कहते। वे स्थितियों और परिस्थितियों का सूक्ष्म चित्रण करते हुए आगे बढ़ते हैं और पाठक के समक्ष सारे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक रहस्य खुलते चले जाते हैं। कथाकार ने रामअजोर पांडे उर्फ अमेरिका पांडे का सृजन कथा को रोचक बनाने के लिए नहीं बल्कि यथार्थ की बहुस्तरीयता को रेखांकित करने के लिए किया है।

इस उपन्यास के एक महत्वपूर्ण पात्र चाचा हैं। वे आत्मनिर्वासित हैं। अपने यौवन के दिनों में अग्रगामी रहे चाचा उपन्यास के विकास के साथ-साथ अग्रगामिता के प्रचलित अर्थ में अग्रगामी नहीं रह जाते हैं। वे अपनी 'आधुनिक पत्नी' और 'आधुनिक बच्चों' के निरंतर भौतिकता में लीन होते जाने और संवेदनात्मक स्तर पर छिछलेपन से भर जाने को लेकर न सिर्फ चिन्तित हैं बल्कि उन्हें रास्ते पर लाने के लिए वे कई सनक भरे उद्यम भी करते हैं। चाची चाहती हैं कि सूर्यकांत उन्हें समझाए। सूर्यकांत कोशिश भी करता है लेकिन इसी बीच वह अपने भाई और बहनोई में समा चुकी दुर्दम्य लालसा को देखकर घिन से भर जाता है। कैसी विडम्बना है, वह घर लौटा है लेकिन अब वह महज एक सीढ़ी है। भाई, भाई की पत्नी, बहन और बहनोई - सब उसका इस्तेमाल करना चाहते हैं। वह जिस प्रेम की खोज में है, उसका कहीं कोई अता-पता नहीं है। इन सभी स्थितियों को उभारने के लिए अखिलेश ने मार्मिक दृश्यों और संवादों का सृजन किया है। इस उपन्यास में ऐसे कई अन्य प्रसंग भी हैं जिनसे उनकी अद्‌भुत किस्सागोई और औपन्यासिक कला का पता चलता है।

अखिलेश ने इस उपन्यास में जिस भाषा का प्रयोग किया है, उस पर भी बात होनी चाहिए। उनकी भाषा में हिन्दी के जातीय गद्य का वैभव है और साथ ही कविता की तरलता भी। यह नीरस, ऊबाऊ और अपाठ्य गद्य नहीं है। यह जीवन के आत्मीय साहचर्य से जन्मा गद्य है। गौरी इस उपन्यास के केन्द्र में है। वह सूर्यकांत की प्राणवायु और जीवद्रव्य है। यह उपन्यास उसकी परिक्रमा करता है लेकिन एक निर्वासन गौरी के भीतर भी है। यह भय से पैदा हुआ निर्वासन है। उसके अन्त:करण में सूर्यकांत के पिता द्वारा दी गई गाली तीर की तरह धंसी हुई है। यह अनायास नहीं है कि सूर्यकांत के यह सूचित करने पर कि प्रचण्ड अकाल के दिनों में उस इलाके में किसी परिवार ने अपनी दो महीने की बच्ची बेच दी थी, वह उस बच्ची में अपनी नानी का संधान करना चाहती है। ऐसा करके वह पीड़ा और निर्वासन से बाहर आना चाहती है।

इस उपन्यास में एक और प्रसंग है। सूर्यकांत अपने चाचा के साथ गोसाईंगंज में रामअजोर पांडे के बाबा का भारतीय परिवार ढूंढ रहा है। उसके लिए यह चकित करने वाला तथ्य है कि गांव के प्रत्येक घर (चाहे वे किसी जाति के हों) से आए सदस्य अपने को रामअजोर पांडे से जोड़ते हैं। सबके पास रोचक किस्से हैं। गांव का प्रधान सूर्यकांत को अपने साथ मिलाकर पांडे का धन हथियाना चाहता है, हालांकि सूर्यकांत उसे पूरी तरह निराश कर देता है। वहां ऐसा कोई नहीं है जिसमें धन-सम्पदा की गहरी हवस न हो। सूर्यकांत वहां से लौटकर पांडे को एक पत्र लिखता है। यह पत्र बहुत अर्थपूर्ण है। इस पत्र में वह भारतीय युवाओं के अमेरिका प्रेम का उद्‌घाटन करता है। गोसाईंगंज की, खासकर जगदम्बा प्रजापति की बात भी करता है। वह उस निर्वासन की ओर संकेत करता है, आज अधिकतर भारतीय युवा जिसकी चाहत रखने लगे हैं। यह वह निर्वासन नहीं है जो भगेलू ने झेला था। जो चाचा झेल रहे हैं। जो सूर्यकांत और गौरी झेल रहे हैं। उन्नीसवीं सदी में भगेलू को मिला निर्वासन इक्कीसवीं सदी के शिब्बू अथवा उसके बहनोई तेन्दुलकर के प्रवासी हो जाने की इच्छा से किसी भी प्रकार तुलनीय नहीं है और अखिलेश ने इसे बेहद प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है।

यह उपन्यास भगेलू के निर्वासन, चाचा की सनक, सूर्यकांत की ईमानदारी, उसके पिता की लाचारी, दादी की टिप्पणियों, शिब्बू और तेंदुलकर की लालसाओं, कॉमरेड कोमल के स्वप्नों, पाण्डे के अपनी जड़ों की खोज, सम्पूर्णानन्द 'वृहस्पति' की माया और गौरी के अकुण्ठ प्रेम के बीच सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक विकास के सभी दावों को सलीके से प्रश्नांकित करता है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि यह पाठक को आतंकित नहीं, आमंत्रित करता है और अंतिम शब्द तक मित्रता का निर्वाह करता है। ✱

(लेखक हिंदी के प्राध्यापक एवं वरिष्ठ आलोचक हैं।)

समीक्षा

संस्कृति के नए सरोकारों को समझने की कोशिश

■ विनोद अनुपम

संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी सन्तानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मान्तर तक करती है। अपने यहां एक साधारण कहावत है कि जिसका जैसा संस्कार है, उसका वैसा ही अगला जन्म भी होता है। जब हम किसी बालक या बालिका को बहुत तेज पाते हैं, तब हम अचानक कह उठते हैं कि यह पूर्वजन्म का संस्कार है। संस्कार या संस्कृति असल में शरीर का नहीं, आत्मा का गुण है। सभ्यता की सामग्रियों से हमारा संबंध शरीर के साथ ही छूट जाता है, परन्तु हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। रामधारी सिंह 'दिनकर' की इस स्थापना को अपनी अभिव्यक्ति देते हुए सुभाष शर्मा लिखते हैं कि भारत में संस्कृति जीवन की छायाप्रति नहीं होती बल्कि जीने की शैली होती है। हम जिस ढंग से शब्दों का उच्चारण करते हैं,जो कुछ खाते-पीते हैं, जो कुछ पहनते हैं, जिस प्रकार का घर बनाकर उसें सजा संवार कर रखते हैं, जिस प्रकार की आदतें और शौक पालते हैं, जो रीतिरिवाज और उत्सव त्योहार मनाते हैं, उन सबका आधार संस्कृति होती है। संस्कृति हमारे तन मन का परिष्कार करती है। उसकी गति धीमी भले होती है, मगर यह परिवर्तन की सतत प्रकिया होती है जो सुपाच्य चीजों, पद्धतियों, परम्पराओं, प्रवृत्तियों आदि को ग्रहण कर लेती हैं, मगर अपाच्य कुप्रभावों, पद्धतियों और प्रवृत्तियों को त्याग देती है।

वास्तव में सुभाष शर्मा की पुस्तक 'संस्कृति और समाज' इसी मायने में महत्वपूर्ण हो जाती है कि यह परिभाषाओं से परे, परिवर्तन की सतत प्रकिया से गुजरते इनके बीच के बदलते सरोकारों को विश्लेषित करती है। आज न तो वे समाज रहे, न संस्कृति, पहले ये लोगों द्वारा नियंत्रित होते थे, अब कई सारी अदृश्य शक्तियों द्वारा यह नियंत्रित होती हैं। जाहिर है, शीर्षक के स्तर पर पुस्तक जितनी ही सहज और सपाट लगती है, विषय में प्रवेश करते ही उतनी ही जटिल हो जाती है। प्रख्यात समाजशास्त्री रेमण्ड विलियम्स और एडवर्ड सईद पर केन्द्रित दो लेखों के साथ पुस्तक में पंद्रह लेख संकलित हैं, जिनके माध्यम से लेखक संस्कृति के परम्परागत रूप से लेकर आधुनिकतम हस्तक्षेप तक को पूरी मुखरता से रेखांकित करता हैं।

'उपभोग की संस्कृति' लेख के अंतर्गत लेखक परम्परागत ग्रामीण संस्कृति और वर्तमान शहरी संस्कृति के द्वन्द्व को विश्लेषित करते हुए लिखते हैं कि आज बाजार नियामक की भूमिका में है और समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व और साझेपन को ग्रहण लग गया है। आज के जमाने में अनियंत्रित और स्वच्छंद उपभोग आवश्कता पर आधारित नहीं रह गया है । भूमण्डलीकरण धन और आय के असमान वितरण को उपभोक्तावादी संस्कृति के जरिए सब

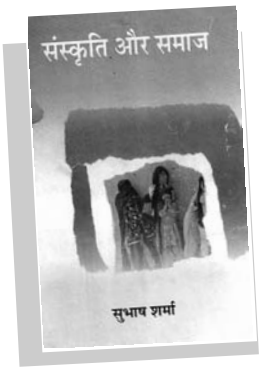

पुस्तक:संस्कृति और समाज (आलोचना)
लेखक: सुभाष शर्मा
प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-110003
मूल्य: ₹ 190

जगह बढ़ा रहा है जिसकी सबसे ज्यादा मार गरीब देशों के गरीबों पर पड़ रही है।

उपभोग की संस्कृति के विस्तार को ही लेखक यौन उपभोक्तावाद की संस्कृति के रूप में रेखांकित करते हैं। वे लिखते हैं कि अमानवीयता की पराकाष्ठा यौन उपभोक्तावाद में स्पष्ट दिखती है जहां पैसा ही सब कुछ है। वह अब महज साधन ही नहीं, साध्य भी हो गया है। लेखक यहां नारी स्वातंत्र्य के नाम पर बढ़ती विद्रूपता पर चोट करते हुए स्पष्ट लिखते हैं कि जो देह को मुक्ति का साधन मानती हैं, वैसी महिलाएं सामाजिकता एवं नैतिकता को तिलांजलि दे रही हैं। जो नारी जाति के लिए ही नहीं, समग्र मानवता के नाम पर कलंक है। लेखक नारी स्वातंत्र्य की नयी अवधारणा के प्रति अपना विरोध दर्ज करने में भी कतई संकोच नहीं करते हैं। वे लिखते हैं- यौन उपभोक्ता जैसी सामाजिक बुराई को दूर करने के लिए एक ओर कानूनी प्रक्रिया को चुस्त-दुरुस्त करने की जरूरत है, तो वहीं सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण भी जरूरी है।

पुस्तक में सुभाष शर्मा ने संस्कृति के क्षेत्र में आधुनिक हस्तक्षेपों को खासतौर पर विमर्श के केन्द्र में लाने की सार्थक कोशिश की है। 'सौन्दर्य, फैशन और बाजार' में लेखक की इस चिन्ता से शायद ही किसी की असहमति बन सकती है कि प्रेम, सौन्दर्य और यौन संबंधों का बाजारीकरण उम्र के गणित को तेजी से बदल रहा है। बचपन, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था की सामाजिक मनोवैज्ञानिक अवधारणाएं तथा सम्बद्ध अपेक्षित व्यवहार श्रेणियां तेजी से ध्वस्त हो रही हैं। वे बदलती सामाजिक व्यवस्था पर चोट करते हुए लिखते हैं- पहले अविकसित समाज में एक तरह की नैतिक अर्थव्यवस्था काम कर रही थी जिसके तहत रक्त या विवाद संबंधों के आधार पर लोग एक दूसरे की मदद करते थे, ...मगर अब रिश्तों का बाजारीकरण हो गया है।

वास्तव में, संस्कृति और समाज पर विचार करते हुए लेखक उपभोक्तावाद को समस्त समस्याओं के मूल में देखने वाले पक्ष के हिमायती दिखते हैं। 'उपभोक्तावाद के आयाम' और 'उपभोक्तावादी संस्कृति' पुस्तक में संकलित उनके दोनों लेख उनके पक्ष को विश्वसनीय बनाते हैं। यहां वे देकार्त का उल्लेख करते हैं, मैं सोचता हूं, इसीलिए मैं हूं। सोचने की यही विशेषता मनुष्य को जानवरों से अलग करती थी। अब उपभोक्तावादी दर्शन कहता है, मैं खरीदता हूं, इसीलिए मैं हूं। जिसमें जितनी ज्यादा क्रयशक्ति वह उतना बड़ा आदमी। ...भारत में पहले बचत करने के लिए संस्कार एवं सरकारी प्रचार दोनों सक्रिय थे। अब वे दोनों खर्च करने के लिए प्रेरित करते हैं। पहले सिर्फ चार्वाक दर्शन में ही ऋणम् कृत्वा घृतं पिवेत की बात थी, अन्य दर्शनों में अपरिग्रह और आध्यात्म अधिक था। कर्ज से परहेज हमारे संस्कारों में था, कर्ज पाप तक समझा जाता था। अब विज्ञापनों ने कर्ज को पापमुक्त ही नहीं, इसे हैसियत और प्रतिष्ठा का प्रतीक बना दिया है।

'संस्कृति और समाज' की सबसे बड़ी खासियत है कि लेखक विदेशी विद्वानों को उद्धृत अवश्य करते हैं लेकिन अपनी पक्षधरता को प्रभावित नहीं होने देते। 'उत्तर औपनिवेशिक साहित्य और संस्कृति', 'भाषाओं का जीवन और मरण', 'मौखिक एवं लिखित परम्पराएं'- तीनों ही लेखों में लेखक की चिन्ता यह दिखती है कि एक ओर भूमण्डलीकरण की तेज बयार चल रही है जिसमें सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य की सीमा को धता बताया जाता है, किन्तु दूसरी ओर पश्चिमी दुनिया के महानगरों में प्रवासियों को उनकी अपनी सांस्कृतिक पहचान बरकरार रखते हुए समाज के सारे सार्वजनिक मामलों में वास्तविक सहभागी नहीं बनाया जाता। 'उत्तर औपनिवेशिक साहित्य और संस्कृति' में शायद अपनी बात वे नगूगी के माध्यम से कह रहे हों, जिन्होंने दो उपन्यास 'डेविल आन द क्रास' एवं 'माटीगरी' अपनी मातृभाषा गिकुयू में लिखा और उनमें लोकगाथाओं की मौखिक परम्परा का उपयोग किया। उनके अनुसार भाषा का चयन श्रोताओं, दर्शकों, पाठकों के चयन से अच्छा खासा संबंध रखता है। लेखक देशज भाषाओं में ही अपने लेखन को जीवंत एवं विकासशील रख सकता है। केन्याई राष्ट्रीय साहित्य वहां की विभिन्न भाषाओं में ही सृजित होना चाहिए अन्यथा एक दिन अंगेजी स्थानीय भाषाओं को निगल जाएगी। आगे वे स्पष्ट लिखते हैं, मौलिक चिन्तन हमेशा अपनी मातृभाषा में ही संभव है। और उत्कृष्ट सृजनात्मक लेखन भी

'संस्कृति और समाज' परिभाषाओं से परे, परिवर्तन की सतत प्रक्रिया से गुजरते इनके बीच के बदलते सरोकारों को विश्लेषित करती है। आज न वे समाज रहे, न संस्कृति, पहले ये लोगों द्वारा नियंत्रित होते थे, अब कई सारी अदृश्य शक्तियों द्वारा यह नियंत्रित होती हैं।

मातृभाषा में ही पुष्पित और पल्लवित होता है। किन्तु अन्य भाषाओं से आदान-प्रदान का सिलसिला बना रहना चाहिए अर्थात हमारी भाषा-संस्कृति के घर का मुख्य दरवाजा हिन्दी हो तथा विदेशी भाषाएं मात्र खिड़कियां हों तभी विविधतात्रयी का महास्वप्न पूरा होगा।

यदि हिन्दुस्तान के सन्दर्भ में बात करें तो माना जा सकता है कि संस्कृति के अहम तत्व मौखिक रूप में ही आज भी संरक्षित हैं। लोकगाथाएं और लोकगीत इसके सशक्त उदाहरण हैं। मौखिक एवं लिखित परम्पराएं में सुभाष शर्मा तकनीकी ज्ञान तक के मौखिक संरक्षण का उल्लेख करते हैं, मौखिक परम्परा में पारम्परिक ज्ञान भी होते हैं जिनमें खेती करने की नाना विधियों, देशी बीजों के संरक्षण की विधियों, कई तरह के पेड़-पौधे उगाने की विधियां, देशी चिकित्सा (योग, जल व मिट्टी से चिकित्सा, जड़ी-बूटियों से चिकित्सा, भस्मों से चिकित्सा, रसायनों से चिकित्सा, पत्थरों व धातुओं से चिकित्सा आदि) की विधियां प्रमुख होती हैं। ....भारत में कई प्रकार के अन्न, फल, फूल, वनस्पति, जड़ी-बूटी आदि के देशज संरक्षण की मौखिक परम्परा रही है जिसमें विशेष कर महिलाओं का योगदान सराहनीय रहा है। मगर यह भूमण्डलीकरण का कुप्रभाव है कि हमारी हजारों प्रकार की प्रजातियां संकर बीजों, खासकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा विकसित समापक बीज (टर्मिनेटर सीड्स) के आधिपत्य और आक्रमण के कारण लुप्त हो गयी हैं।

पुस्तक में एडवर्ड सईद और रेमण्ड विलियम्स की स्थापनाओं को भारतीय संबंध में परखने की कोशिश की गयी है, और एक बार फिर इस स्थापना को मजबूत करते दिखते हैं कि मौलिक चिंतन हमेशा अपनी मातृभाषा में ही सम्भव है। वे लिखते हैं कि एडवर्ड सईद ने संस्कृति के सवाल को राजनैतिक संदर्भ (साम्राज्यवाद) से जोड़ा। आर्थिक शोषण से जोड़ा और मानव रुख से

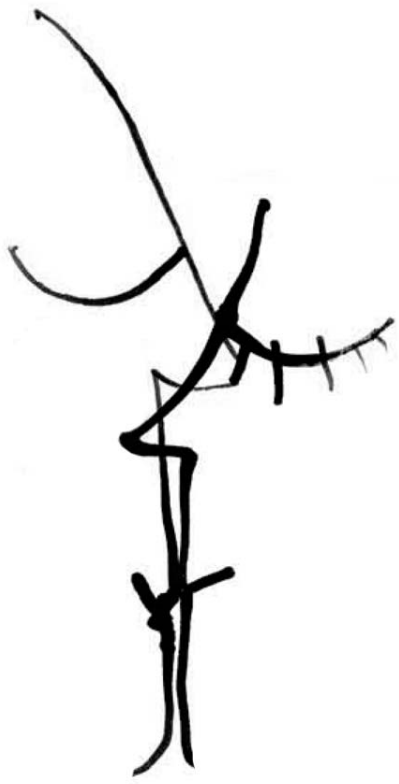

जोड़ा। किन्तु जब वे परस्परता, परस्पर निर्भरता आदि की बात करते हैं तो ऐसा लगता है कि वह विषम आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, वैश्विक व्यवस्था और उससे उत्पन्न वैश्वीकरण के दंश को कदाचित भूल जाते हैं अथवा कमतर आंकते हैं। शायद वे अपने को अमेरिका (विश्वशक्ति और पश्चिम के प्रतिनिधि) और तीसरी दुनिया के प्रतिनिधि दोनों से जुड़ा मानते हैं। रेमण्ड विलियम्स के विचारों की सराहना करते हुए भी वे लिखते हैं- (रेमण्ड विलियम्स) साम्राज्यवादी (नकारात्मक) अनुभव को नजरअंदाज करता है, और यह प्रवृत्ति अधिकतर पश्चिमी आलोचकों और साहित्य के समाजशास्त्रियों में पायी जाती है। वे पूर्व के अविकसित समाज को (पश्चिमी स्रोतों पर समूचा विष्लेषण आधारित होने के कारण) पश्चिम के रंगीन चश्मे से देखते हैं। इसलिए उनका विश्लेषण एकांगी रह जाता है।

'प्रतिसंस्कृति' वास्तव में विरोध की संस्कृति है। पश्चिमी समाज में युवाओं में बढ़ते विरोध के स्वभाव को विश्लेषित करते हुए शर्मा लिखते हैं- प्रतिसंस्कृति में व्यक्तित्व के गैर प्रज्ञात्मक पक्ष शामिल होते हैं और विक्षिप्त बुद्धिमानी (मैड रैशनलिटी) का जवाब विक्षिप्त धुन (मैड पैशन) होता है। इसलिए युवाओं पर पूर्वी धर्मों का असर पड़ता है जो विनम्र, शान्त और पूर्णत: सभ्य चिन्तनशीलता की विरासत वाले होते हैं। पूर्वी रहस्यवाद में तर्क-वितर्क शामिल रहता है, मगर यह मौन के लिए उदारतापूर्वक स्थान भी देता है। यह मानता है कि मौन के साथ मनुष्य जीवन के महानतम क्षणों से टकराते हैं। दूसरी ओर पाश्चात्य विवेक मौन को महज एक शून्य समझता है।

संस्कृति पर विमर्श के दौरान भूमण्डलीकरण लेखक के विचार के केन्द्र में देखा जा सकता है, आश्चर्य नहीं कि लेखक संस्कृति और समाज पर विमर्श करते हुए राष्ट्रीय अस्मिता का सवाल उठाना जरूरी समझता है। वे रेनन को उद्धृत करते हुए लिखते हैं, 'राष्ट्र नागरिकों द्वारा किए गए बलिदानों के भावबोध द्वारा गठित महान संगति या समरसता है। वर्तमान में राष्ट्रों का अस्तित्व न केवल अच्छा है बल्कि जरूरी भी है क्योंकि यह स्वतंत्रता की गारंटी है जो खत्म हो जाएगी यदि समूचे विश्व के लिए एक कानून और एक मालिक होगा। सचेत मनुष्यों का एक महान समूह तथा हृदय की गर्माहट नैतिक चेतना रचती है, और इसे ही राष्ट्र कहते हैं।

'संस्कृति और समाज' आधुनिकता के दौर में हैरान परेशान होती संस्कृति पर सिलसिलेवार रूप से विमर्श के लिए पाठकों को तैयार करती है। निश्चित रूप से कथित वैज्ञानिक समझ के नाम पर पश्चिम के आकर्षण में आकंठ डूबे बुद्धिजीवियों के लिए सुभाष शर्मा से सहमत होना सहज नहीं हो लेकिन आम पाठकों को अवश्य इनमें अपने विचारों की धमक महसूस होगी। ✱

(लेखक प्रख्यात फिल्म समीक्षक हैं।)

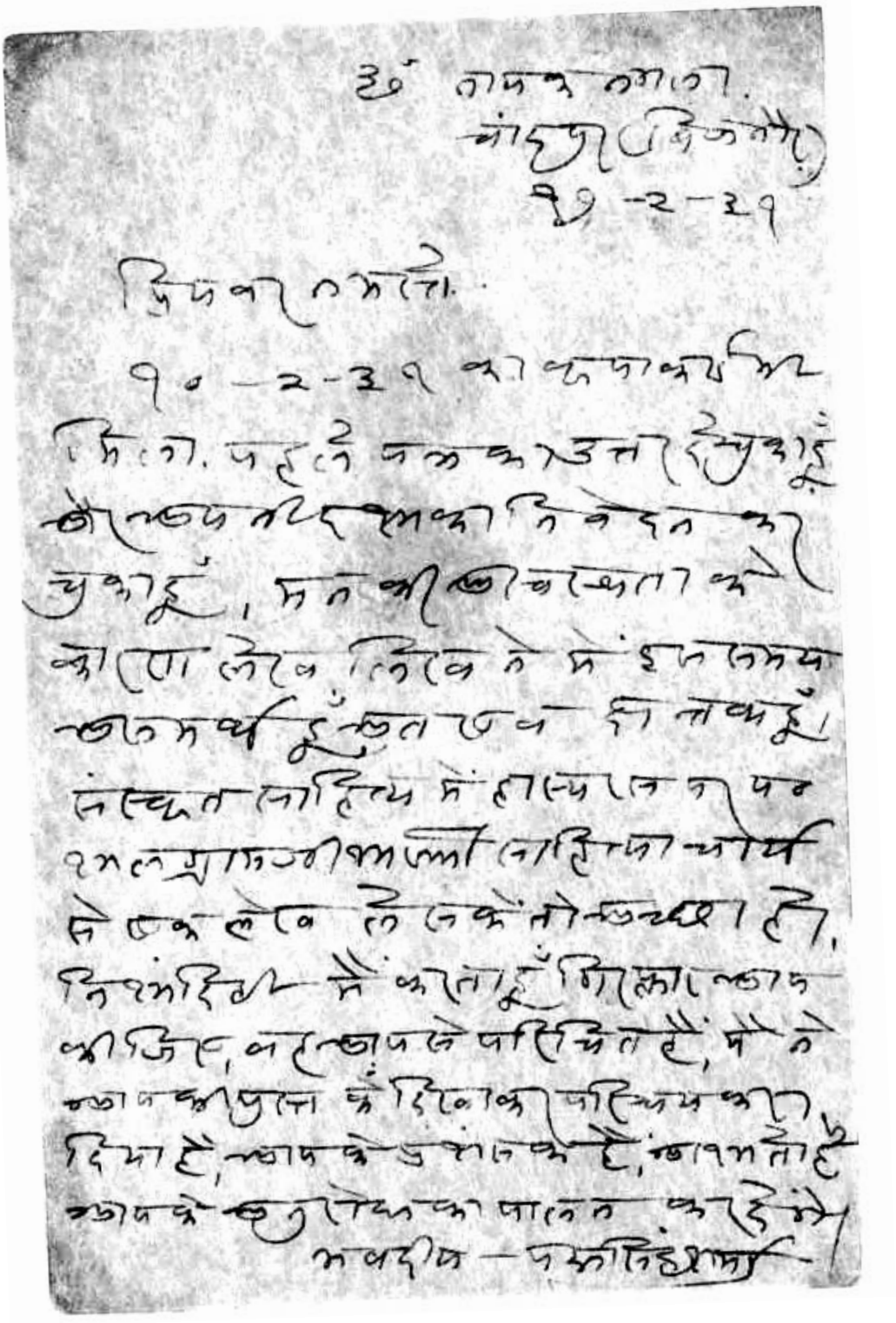

श्री पद्म सिंह शर्मा द्वारा श्री अन्नपूर्णानंद वर्मा को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

समीक्षा

गांधी के पहले और गांधी के बाद

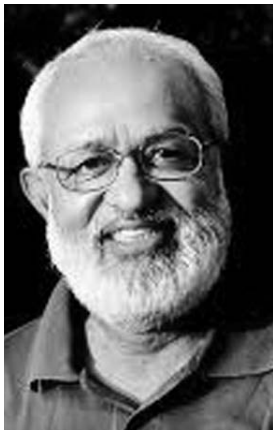

■ पुष्पेश पंत

रामचंद्र गुहा की गिनती दुनिया के सबसे अधिक प्रभावशाली सौ लोगों में हो चुकी है। वह सिर्फ इतिहासकार नहीं समाजशास्त्री, पर्यावरणविद्, अंग्रेजी अखबारों के मशहूर स्तम्भ लेखक और क्रिकेट की दिलचस्प जानकारियां रखने वाले न जाने क्या क्या हैं! वह अपनी ही बिरादरी की 'सार्वजनिक बुद्धिजीवी' (पब्लिक इंटलेक्चुअल) अरुंधती राय से दो-दो हाथ भी कर चुके हैं। उनकी खुद की छवि ऐसे 'उदार-धर्मनिरपेक्ष-जनतांत्रिक' की है जिसे 'नेहरूवादी खिचड़ी' खाना और खिलाना बहुत पसंद है-देश का राजनैतिक-सांस्कृतिक हाजमा दुरुस्त रखने के लिए। कुछ समय पहले तक उन्हें 'दस जनपथ' का करीबी समझा जाता था- शायद इसलिए कि जब वह 'इंडिया आफ्टर गांधी' नामक अपनी किताब के लिए शोध कर रहे थे तो सोनिया गांधी ने उन्हें तीनमूर्ति भवन वाले नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय में उन दस्तावेजों को देखने की इजाजत दी थी जो अन्य शोधकर्ताओं के लिए अलभ्य ही रहे हैं, इस अपवाद के पहले और बाद।

लब्बोलुआब यह है कि सुर्खियों में रहने की राम को आदत है। हाल ही में प्रकाशित अपनी ताजा कृति 'गांधी बिफोर इंडिया' की वजह से वह फिर चर्चा में ही नहीं बीच बहस में हैं। कम से कम एक आलोचक ने इस बात पर छींटाकशी की है कि इस तरह के आकर्षक शीर्षक चुनने में ही इस लोकलुभावन इतिहासकार की विशेषज्ञता है- किताब में अन्यत्र गम्भीर शोध के दर्शन नहीं होते। इस बात को नकारना कठिन है कि जो पाठक राम गुहा के अंग्रेजी गद्य के प्रेमी-प्रशंसक हैं और उनकी 'अंतरराष्ट्रीय ख्याति' के महिमामंडन में सिद्धहस्त वह भी इस समय असाधारण रूप से मौन हैं। लेखक का दावा है कि इस पुस्तक के लेखन में बहुत सारी ऐसी सामग्री का उपयोग किया गया है जो अब तक सुलभ नहीं थी और गांधी के जीवन के अनछुअे पहलुओं पर नयी रोशनी डाल सकती है। पर पूरी पोथी बांच जाने के बाद हमें अपने एक लड़कपन के दोस्त की कही बात याद आती रहती है, 'छील छील कर बादाम खाने का हठी बादाम रोगन से महरूम ही रह जाता है!' इकलौते बाल की चाहे जितनी खाल निकालें या सूत महीन से महीन कातते रहें इस बात की कोई गारंटी नहीं कि आपका श्रम सार्थक होगा, कोई नया गुल खिलाएगा। राम की किताब निराश ही करती है। इसकी तुलना में वयोवृद्ध इतिहासकार प्रोफेसर एस आर मेहरा की डॉ0 प्राण जीवन मेहता की जीवनी से करते ही इसका हलकापन उजागर होने लगता है। डॉ. प्राण जीवन मेहता गांधी के महात्मा बनने के बर्षों पहले से उनके समर्थक-उत्साहवर्धक साथी थे और भारत लौटने की प्रेरणा देने वालों में प्रमुख। 1930 के दशक में अपने देहांत तक गांधीजी से उनका पत्राचार चलता रहा। गुलाम भारत में महामारी-टीकाकरण, रोगों के उपचार तथा पोषण जैसे विषयों पर बापू की राय बनाने में उनकी महत्वपूर्ण-अब तक अनजान-भूमिका का पता इस किताब से चलता है। पुस्तक में उन स्रोतों को शामिल किया गया है जिनका अध्ययन लेखक ने किया है।

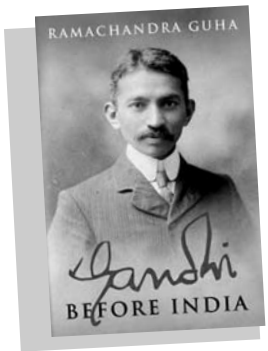

पुस्तक: गांधी बिफोर इंडिया
लेखक: रामचंद्र गुहा
प्रकाशक: पेंग्विन इंडिया
प्रकाशन वर्ष: 2013
मूल्य: ₹899

यह कहना शायद अन्याय होगा कि 'गांधी बिफोर इंडिया' चटपटी-झटपटिया (क्विकी) है- लेखक ने अपने व्यस्त अध्यापकीय-सार्वजनिक प्रवचन-भाषण कार्यक्रमों में कटौती कर इसे तैयार किया है। जाहिर है इसमें अनेक वर्ष लगे होंगे। येल विश्वविद्यालय में अतिथि प्रोफेसर के रूप में राम गुहा द्वारा पढ़ाए एक कोर्स की सामग्री जुटाते वक्त इसका बीजारोपण हुआ था। यह बात पुस्तक की भूमिका में बताई गई है। विदेशी अंडरग्रेजुएट छात्रों के लिए गांधी की जीवनी की झलक भर अद्‌भुत, बिल्कुल नया अनुभव हो सकती है पर भारतीय पाठक के लिए- पेशेवर इतिहास के छात्रों के लिए भी- इसका स्वाद बासी ही रहेगा। बी.आर नंदा की क्लासिक जीवनी गांधी को छोड़ भी दें तब भी राजमोहन गांधी की 'दि ग्रेट हेल्मसमैन' इस पर भारी पड़ेगी। रंजीत कपूर की चर्चित फिल्म 'मेकिंग ऑफ दि महात्मा' पर अकादमिक मुलम्मा चढ़ाने की नाकाम कोशिश ही इस प्रयास में नजर आती है। जिस तरह 'इंडिया आफ्टर गांधी' अखिल भारतीय सेवाओं की प्रवेश परीक्षा देनेवालों के लिए खासतौर पर उपयोगी बन चुकी है, कुछ वैसे ही इस किताब का भी एक खास 'महत्व' बनाने में प्रकाशक सफल हो सकते हैं, पर किसी भी तरह खींच-तान कर इसे आधुनिक भारत के इतिहास लेखन में 'मील का पत्थर' नहीं कहा जा सकता। यों यह जोड़ने की जरूरत है कि 'इंडिया आफ्टर गांधी' में भी मौलिक अंतर्दृष्टि तथा विश्लेषण का अभाव था। हां, इसका 'गद्य' बाजार में तब तक छाई प्रतियोगी पुस्तक- बिपिन चंद्रा तथा उनके पट्‌टशिष्य द्वय मृदुला एवं आदित्य मुखर्जी द्वारा रचित 'इंडिया आफ्टर इंडिपेंडेंस' की तुलना में पठनीय था- शैली कहीं अधिक साहित्यिक।

ऐसा लगता है कि प्रकाशक को हर दूसरे या तीसरे साल एक पुस्तक देने का जो करार राम गुहा ने किया है, वह उन्हें इस तरह की पुस्तकें लिखने को मजबूर कर रहा है- जो अपने कलेवर के कारण ही वजनदार समझी जा सकती हैं, सामग्री के कारण नहीं। यह सर्वविदित है कि कुछ वर्ष पहले राम को एक प्रकाशक ने करोड़ों रुपए की अग्रिम रॉयल्टी देकर इस बात के लिए अनुबंधित किया था कि वह इसकी एवज में पांच पुस्तकें उसे देंगे। पिछली दो किताबें भी मौलिक रचनाएं नहीं बल्कि निराश करने वाले संपादित संकलन ही हैं- 'मेकर्स ऑफ मॉडर्न इंडिया' तथा 'पैट्रिआट्स एंड पार्टिसन्स'। इनमें पहले संकलन में चुनिंदा राष्ट्र-निर्माताओं की रचनाओं के अंश एक परिचयात्मक आमुख के साथ प्रस्तुत किए गए हैं और दूसरी कृति समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित राम गुहा के लेखों के संशोधित-संवर्धित संस्करण हैं। इनमें से किसी की भी बराबरी राम की प्रारम्भिक पुस्तकों से नहीं की जा सकती।

राम गुहा की पहली किताब थी 'अनक्वायट वुड्स' जो उनकी पीएचडी की शोध पर आधारित थी और उत्तराखंड में चिपको आंदोलन का विचारोत्तेजक अध्ययन थी। इसके बाद माधव गाडगिल के साथ मिलकर उन्होंने 'दि फसर्ड लैंड एकोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया' लिखी जिसे निश्चय ही इंटरडिसिप्लिनरी शोध के क्षेत्र में बड़ी पहल माना जाना चाहिए।

एक छोटे से अंतराल के बाद राम ने वरियर अल्विन की जीवनी प्रकाशित की- 'सैवेजिंग दि नोबल' जिसने उस ईसाई मिशनरी की याद ताजा करा दी जो आदिवासियों के बारे में भारत के पहले प्रधानमंत्री के प्रमुख सलाहकार समझे जाते रहे हैं। संवेदनशील पूर्वोत्तरी राज्यों के बारे में नीतिनिर्धारण में अल्विन की भूमिका महत्वपूर्ण समझी जाती रही है। वरियर अल्विन को असंदिग्ध रूप से भारत से अगाध प्रेम था। उन्होंने एक आदिवासी महिला से विवाह भी रचाया था और उनकी संतानें वंचित आदिवासी जीवन ही व्यतीत करती रहीं। विश्वविख्यात व्यक्ति की पति और पिता के रूप में असफलता की यह करुणगाथा काफी मर्मस्पर्शी थी।

इसके बाद ललित निबंधों का एक सरस संग्रह आया- 'एन एंथ्रोपोलॉजिस्ट अमंग मार्क्सिस्ट्स' जिसके जरिए राम ने अपनी

यह कहना शायद अन्याय होगा कि 'गांधी बिफोर इंडिया' चटपटी-झटपटिया (क्विकी) है- लेखक ने अपने व्यस्त अध्यापकीय सार्वजनिक प्रवचन-भाषण कार्यक्रमों में कटौती कर इसे तैयार किया है। जाहिर है इसमें अनेक वर्ष लगे होंगे- येल विश्वविद्यालय में अतिथि प्रोफेसर के रूप में राम गुहा द्वारा पढ़ाए एक कोर्स की सामग्री जुटाते वक्त इसका बीजारोपण हुआ था।

रामचंद्र गुहा

वैचारिक स्थिति स्पष्ट करने की चेष्टा की। कहीं न कहीं उनके मन में यह बात रही होगी कि उनके (समाजशास्त्री) पेशे के अकादमिक पाठक उन्हें लोकप्रिय (चालू) अगंभीर इतिहासकार न समझने लगें! उन दिनों- जहां तक याद पड़ता है- राम गुहा दिल्ली विश्वविद्यालय में सोशियोलॉजी के प्रोफेसर नियुक्त हुए ही थे। तभी इस प्रकाशक का यह धमाकेदार प्रस्ताव उनके सामने आया और वह पढ़ाना छोड़ पूर्णकालिक लेखक बन कर बंगलुरू चले गए।

बंगलुरू राम के लिए घर लौटने जैसा था। उनके पिता देहरादून के फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टिट्यूट में काम करते थे और इसी कारण राम की पढ़ाई-लिखाई दून स्कूल में हुई थी। कॉलेज के लिए वह सेंट स्टीफेंस पहुंचे। फिर पीएचडी के लिए आइआइएम। अगली सीढ़ी बना येल विश्वविद्यालय। राम गुहा दिल्ली विश्वविद्यालय के अलावा येल, लंदन आदि विश्वविद्यालयों में भी पढ़ा चुके हैं। जो तीर या तुक्के से बच भी जाए वह इस तेली के कोल्हू के वजन से मारा जाता है। कौन नादान भला अपना मुंह खोल यह कहने का दुस्साहस कर सकता है कि इस 'सार्वजनिक बौद्धिक' सम्राट के शरीर पर कपड़ों का अभाव है? न जाने क्यों 'गांधी बिफोर इंडिया' पढ़ते हुए एक और हिंदी कहावत याद आती रही 'चूहे को कपड़े का चिथड़ा क्या हाथ लगा उसने बजाजे की दूकान खोल ली!' जब विदेशी विश्वविद्यालय के छात्रों-प्राध्यापकों को राम गुहा अपनी इस खोज से चमत्कृत कर चुके कि दक्षिण अफ्रीका से भारत आने का गांधी का फैसला नस्लवादी रंगभेद की उस नाटकीय घटना के बाद नहीं लिया गया जब उन्हें रेल के अव्वल दर्जे के डब्बे से बाहर फेंका गया था बल्कि एक दूसरी घटना इसके लिए जिम्मेदार थी तब फिर कैसे वह देर तक यह लोभ संवरण कर सकते थे कि इस जानकारी का साझा बाकी दुनिया से करें? 'गांधी जीवनी लेखन उद्योग' आज भी लाभप्रद है। इसका यह पुस्तक एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। हम यह पहेली सुलझा रहे हैं कि राम गुहा की अगली किताब कौन सी होगी? 'भारत के पहले गांधी' और 'गांधी के बाद भारत' के बाद? 'गांधी भारत में'? फिर शायद 'आज के भारत में गांधी'? चटक शीर्षकों का अभाव है क्या?

इस देश का दुर्भाग्य यह है कि हर छोटी बड़ी बौद्धिक बहस का एजेंडा

अंग्रेजीदां अंग्रेजीपरस्त तय करते हैं। किताब शोधपरक हो या गल्प (फिक्शन), वह तभी नजर आती है यदि अंग्रेजी में लिखी हो। सुधीर चंद्रा की गांधी की डायरी पर आधारित रचना को राम की पुस्तक का शतांश भी स्थान छापे या इलैक्ट्रॉनिक माध्यम में नहीं मिला है। 'पहला गिरमिटिया' पर बातचीत हिंदीवालों के बीच ही सिमटी रही थी। नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' से ले कर सुनील खिलनानी की 'आइडिया ऑफ इंडिया' तक पाठकों-समालोचकों की प्रतिक्रिया से यही धारणा पुष्ट होती है।

गांधी की असलियत ही नहीं हिंदुस्तान की हकीकत समझाने का ठेका जिन स्वयंभू 'उदारवादी-धर्मनिरपेक्ष-जनतांत्रिकों' ने ले रखा है उन सभी की कमजोरी एक जैसी है। उन्हें लगता है कि जो कुछ जानकारी देर-सबेर उनके हाथ लगी है वह एक नयी खोज है और जो इसे ऐतिहासिक उपलब्धि नहीं कबूल करता वह असहिष्णु, दकियानूस, कट्टरपंथी प्रतिक्रियावादी ही हो सकता है। (इसका सबसे तजा उदाहरण अरुंधति रॉय हैं जिनका नवीनतम फतवा यह है कि करोड़ों हिंदुस्तानियों के प्यारे बापू को 'राष्ट्रपिता' कहना अन्याय है और उनसे यह उपाधि वापस लेकर उनके नाम पर स्थापित संस्थाओं का फिर से नामकरण होना चाहिए! गांधी के बुत की देवता बना कर पूजा करने की हिमायत हम नहीं करते और न ही इस कोलाहल में शामिल हो इस मक्कार बहस को तूल देना चाहते हैं कि इस अपराध के लिए अरुंधति को दंडित किया जाना चाहिए। पर यह अवश्य कहना चाहते हैं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का आदतन अनर्थ करनेवाले पेशेवर सार्वजनिक बौद्धिकों से बच कर रहने की जरूरत है।

विडंबना यह है कि कुछ ही दिन पहले

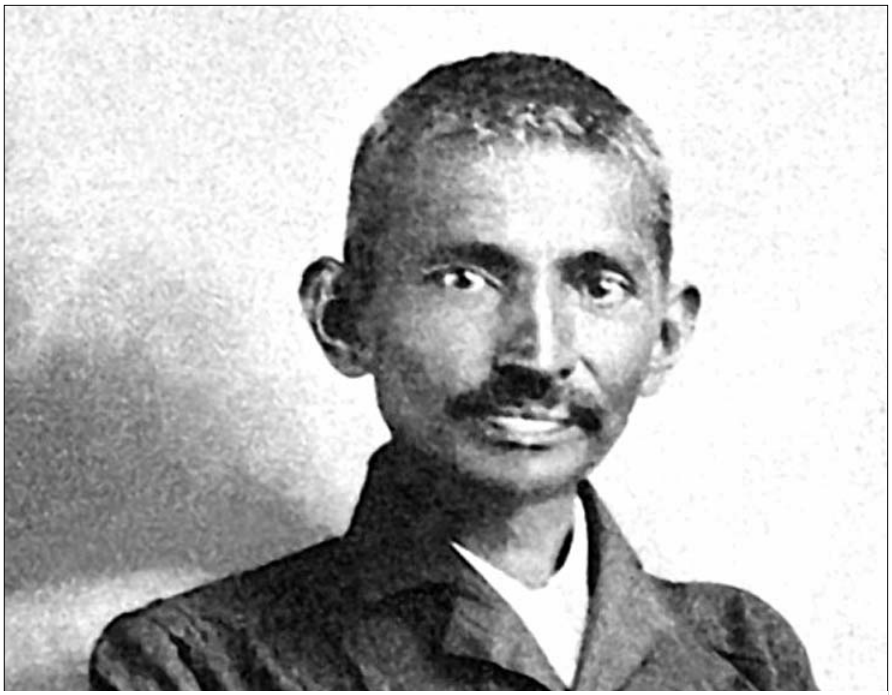

गांधीजी की युवावस्था की एक तस्वीर

इस देश का दुर्भाग्य यह है कि हर छोटी बड़ी बौद्धिक बहस का एजेंडा अंग्रेजीदां अंग्रेजीपरस्त तय करते हैं। किताब शोधपरक हो या गल्प (फिक्शन), वह तभी नजर आती है यदि अंग्रेजी में लिखी हो।

तक अरुंधति नक्सलियों को 'बंदूकधारी गांधीवादी' कह रही थीं। इधर कुछ दिनों से उनका प्रयास गांधी के मुकाबले आंबेडकर को खड़ा करने का रहा है जिस अभियान में दलित सार्वजनिक बौद्धिक कांचा इलैया का समर्थन उन्हें बसपाइयों के साथ अनायास मिला है। बहरहाल, यदि लेखक प्रकाशक की नजर में इन तथाकथित 'कालजयी' रचनाओं का हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं में अनुवाद सुलभ हो तो महापंडितों के शोध की कलई खुलते देर नहीं लगेगी। कम से कम इन पंक्तियों का देसी लेखक इस बात से आतंकित होने को तैयार नहीं कि दर्जनों विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो जाने से ही कोई रचना खुद ब खुद महत्वपूर्ण बन जाती है। बेस्टसेलर पुस्तक प्रकाशन और विक्रय का अंतरराष्ट्रीय तिलिस्म निराला है। वह महंगे (अर्थात करोड़ों रुपए पेशगी ग्रहण कर चुके अनुबंधित) लेखक को सेलिब्रेटी बनाने में महारत पर टिका है। तारीफ के पुल बांधने वाले लेखकीय 'पेज थ्री' पर बसने वाले सहोदर होते हैं। विदेशी विद्वानों की तारीफ के तमगे नयी किताब की जिल्द की पीठ पर बतौर इश्तेहार छापे गए हैं पर इन 'ममकोपि समानधर्माओं' को हर मौके पर अपने जैसे लोगों के संग देखा जाना इतना आम हो चुका है कि 'कालोह्व निरवधिर्विपुलाश्च पृथ्वी' की चिंता राम गुहा को कभी नहीं रही है। ✱

(*लेखक वरिष्ठ राजनीतिक चिंतक हैं।*)

समीक्षा

कर्मयोगी पर बुद्धियोगी के विचार

■ जीतेन्द्र गुप्ता

आधुनिक भारतीय इतिहास में 1940 का दशक अपनी वैचारिक विविधता और संघर्ष के नजरिए से बहुत महत्वपूर्ण है। इस दौर का महत्व इन मायनों में और अधिक विस्तारित हो जाता है कि राजनीतिक सिद्धांत और राजनीतिक कार्यक्रम जैसे विपरीत प्रतीत होने वाले मुद्दों का समेकन इसी दौर में हो पाया और भारतीय समाज की गतिकी को निर्धारित करने वाले घटक जैसे जाति, धर्म, समुदाय आदि को भी राजनीतिक कार्यक्रमों में शामिल किया जा पाया। जाहिर सी बात है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह विचार प्रशंसनीय है लेकिन इसके साथ यह गहरे विद्वतापूर्ण अध्ययन का विषय भी है कि यह विकास क्यों हो पाया। इन मायनों में स्वामी सहजानंद सरस्वती के जीवन के साथ उनके वैचारिक विकास का अध्ययन पूर्वोक्त प्रश्नों का कुछ हद तक उत्तर जरूर उपलब्ध करा सकता है। 22 फरवरी 1889 को जन्मे स्वामी सहजानंद सरस्वती की मौत 25 जून 1950 को 61 वर्ष की उम्र में हो गई थी। उनकी राजनीतिक सक्रियता का काल वही है, जिसके विषय में पूर्वोक्त उल्लेख किया गया है।

यह बात बिल्कुल सत्य है कि शिकागो विश्वविद्यालय से पीएच.डी. करनेवाले वाल्टर हाउजर के शोधकार्य ने सहजानंद सरस्वती के कार्यों और उनके विचारों के विषय में विद्वानों को वैश्विक स्तर पर सोचने के लिए प्रेरित किया। लेकिन इसके साथ सत्य यह भी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन ने उनके विचारों और उनके प्रदाय को कतई विस्मृत नहीं किया। यहां तक कि इरफान हबीब, सुमित सरकार, के. एन. पणिक्कर, सब्यसाची भट्टाचार्य व मुशीरुल हसन जैसे प्रतिष्ठित इतिहासकारों ने स्वामी के दाय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसके अलावा कई रचनात्मक कार्य भी स्वामी जी पर केंद्रित होकर लिखे गए हैं। इन्हीं रचनात्मक कार्यों की श्रेणी में हिंदी के प्रतिष्ठित ललित निबंधकार स्वर्गीय कुबेरनाथ राय द्वारा लिखे गए ललित निबंध भी आते हैं। मूलत: कुबेरनाथ राय ने इन निबंधों को स्वामी जी की रचनाओं पर केंद्रित होकर लिखा है। 'मेरा जीवन संघर्ष', 'क्रांति और संयुक्त मोर्चा', 'किसान सभा के संस्मरण' (किसान कैसे लड़ते हैं व किसान क्या करें), 'महारुद्र का महाताण्डव' व 'गीता हृदय की भूमिका' सहजानंद सरस्वती की रचनाओं के नाम हैं और इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत स्वर्गीय कुबेरनाथ राय ने भी निबंध लिखे हैं। ये निबंध अपनी संरचना में विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति वाले हैं, जो सहजानंद सरस्वती के राजनीतिक व वैयक्तिक जीवन का मूल्यांकन करते हैं, लेकिन इसके साथ कुबेरनाथ राय जिस लालित्य और अर्वाचीन प्रसंगों को नए रूपों में प्रयोग करने के लिए जाने जाते हैं, उस लालित्य का आस्वाद भी इन निबंधों में विद्यमान है।

कुबेरनाथ राय के ये निबंध इसलिए बहुत महत्वपूर्ण हैं कि पारम्परिक रूप से ऐतिहासिक या राजनीतिक व्यक्तियों का इतिहास या समाजशास्त्र या राजनीति के अनुशासन के अंतर्गत जिस तरह से अध्ययन किया जाता है, ये निबंध उससे बिल्कुल भिन्न शैली में हैं। उदाहरण के लिए कुबेर जी ने लिखा है, 'मेरा जीवन संघर्ष' पढ़कर स्वामी जी का जो चित्र मन में बनता है वह एक उद्दाम धैर्यहीन कर्म- प्रेरणा से विकल पुरुष का है और यह उनकी

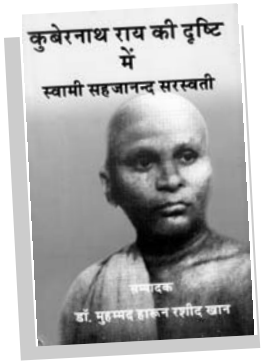

पुस्तक: कुबेरनाथ राय की दृष्टि में स्वामी सहजानंद सरस्वती
संपादक: डॉ. मुहम्मद हारून रशीद खान
प्रकाशक: विकल्प प्रकाशन, सोनिया विहार, दिल्ली
मूल्य: ₹ 300

खूबी है और उनकी कमजोरी भी। विकल पुरुष ही विद्रोही हो सकता है। धीर प्रशांत मनोभूमि विद्रोही-वृत्ति के अनुकूल नहीं होती। धीरोद्धत और धैर्यहीन ही स्थिति को बरदाश्त नहीं कर पाता।' स्वाभाविक तौर पर कुबेर जी ने जहां एक ओर स्वामी जी के मूल्यांकन के लिए मनोविज्ञान का सहारा लिया है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने स्वामी जी के कृतित्व का सहारा लेते हुए शब्द मीमांसा के स्तर पर भी बहुत कुछ खोजने का प्रयास किया है। 'वे संन्यासी थे। अत: उनको नियति ने पूरा-पूरा वरण-स्वातंत्र्य दिया था। गृहस्थ के पास वरण स्वातंत्र्य नहीं रहता। वह दायित्व के पाशों से जकड़ा होता है। परन्तु संन्यासी छुट्टा सांड होता है। बाह्य दायित्व के पाश को वह छिन्न कर चुका है।'

इसके बावजूद कुबेर जी के इस लेखन में समस्या इस स्तर पर उत्पन्न होती है, जब लेखक स्वामी जी के लेखन में अतिरिक्त छूट लेकर उन्हें उस रूप में प्रस्तुत करता है, जैसे सनातनधर्मियों ने बाद में बुद्ध को भी ईश्वर के अवतार के रूप में पेश करने का प्रयास किया था। 'मेरा जीवन संघर्ष' में किसान सभा के गठन के साथ स्वामी जी में किस तरह के वैचारिक परिवर्तन हो रहे थे, स्पष्ट उल्लेख मिलता है। स्वीकारोक्ति की तरह से स्वामी जी ने लिखा है, '... मैं बराबर सनातनी रहा हूं। इसकी गहरी छाप जो मेरे दिल पर उस समय (बचपन में) पड़ी वह मिट न सकी, हालांकि पहले जैसी कट्टरता अब नहीं रही और पीछे आकर मैं धर्म की उन्हीं बातों को माना जिन्हें बुद्धिपूर्वक मान सका हूं। आजकल भी उनका कुछ न कुछ जरूर असर है, यह सही है।' और अब इतनी सी स्वीकारोक्ति के 'आधार' पर कुबेर जी ने मार्क्सवाद विरोध या स्वामी जी की मार्क्सवादी पक्षधरता को ही दरकिनार करके ऐसी 'अधिरचना' को विकसित किया जो कि हर एक स्तर पर स्वामी जी के व्यक्तित्व के विरोध में जाती है। कुबेर जी के ही शब्द हैं कि '.. स्वामी जी को भारतीय धर्म और संस्कृति से छिन्नमूल विद्रोही समझने की भूल नहीं होनी चाहिए। वे कच्चे मेरुदण्ड नहीं थे और उनकी सुषुम्ना में भारतीय धर्म का सर्वाधिक बुद्धि-सम्मत प्रवाह अंत तक प्रवाहित था और अंत में वे गीता-गायत्री और संन्यास दण्ड से जुड़े ही रह गए थे'। इसके बाद और अधिक सरलीकरण करते हुए कुबेर जी आरोप लगाने की मुद्रा अख्तियार करते हुए कहते हैं कि 'स्वामी जी वस्तुत: धर्म के नैतिक स्वरूप को ही जनसामान्य के संदर्भ में महत्व देते थे। धर्म जनसामान्य के नैतिक जीवन और नीतिबोध की आधारशिला होता है।' जाहिर सी बात है कि यदि यहां प्रसंग कबीर या नानक का होता, तो इस निष्कर्ष से कोई आपत्ति नहीं होती, लेकिन वैज्ञानिक उपलब्धियों और तर्क के युग में इन मान्यताओं से सहमत होना संभव नहीं। इस युग में सहज प्रश्न यह है कि यदि धर्म जनसामान्य के नैतिक जीवन और नैतिकबोध की आधारशिला होता है, तो एक ही धर्म को माननेवाले लोगों की नैतिकताओं में अंतर क्यों होता है और दूसरी बात कि सभी धर्म तात्विक रूप से नैतिक स्तर पर बिल्कुल एक जैसी शिक्षाएं क्यों देते हैं? इसी तथ्य का एक व्यावहारिक उदाहरण स्वामी जी के शब्दों को उद्धृत करके दिया जा सकता है। 'किसान कैसे लड़ते हैं' में उन्होंने किसान विद्रोह की आक्रामक रणनीति का जिक्र इन शब्दों के साथ किया है, 'यह है हमारा डंडावाद, यह है महराज 'दुखहरन' जी की अपार महिमा कि उनके स्मरण मात्र से ही संकट दूर हो जाते हैं- 'यस्य स्मरण मात्रेण मुच्यते भव बंधनात'। विष्णुसहस्राम की पंक्तियों का प्रयोग करते हुए भी स्वामी जी ने प्रत्यक्ष संघर्ष की सैद्धांतिकी विकसित की है। यहां अब आसानी से लक्षित कर सकते हैं कि स्वामी जी के लिए 'नैतिकता' का स्रोत क्या है। यह स्रोत व्यावहारिकता या समकालीन राजनीतिक परिस्थितियां हैं या सनातन धर्म?

धर्म के विषय में मार्क्स के विचारों में विभ्रम अभी तक विद्यमान है। कुबेरनाथ राय द्वारा स्वामी जी के ऊपर लिखे निबंधों से भी यही जाहिर होता है। इस संदर्भ में 'ए कंट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑव हीगेल्स फिलॉसफी ऑव राइट' के एक प्रासंगिक सार को उद्धृत करने की आवश्यकता जरूर है। प्रो. रणधीर सिंह ने इस सार को इन शब्दों में लिखा है, 'मनुष्य ने धर्म का निर्माण किया है। धर्म मनुष्य का निर्माण नहीं करता है। धर्म वास्तव में [उस]

कुबेरनाथ राय के ये निबंध इसलिए बहुत महत्वपूर्ण हैं कि पारम्परिक रूप से ऐतिहासिक या राजनीतिक व्यक्तियों का इतिहास या समाजशास्त्र या राजनीति के अनुशासन के अंतर्गत जिस तरह से अध्ययन किया जाता है, ये निबंध उससे बिल्कुल भिन्न शैली में हैं।

मनुष्य की स्व-चेतना व स्व-विचार है, जिन्होंने स्वयं पर विजय नहीं पाई है, या स्वयं को पहले ही कहीं विसर्जित कर [खो] चुके हैं। लेकिन मनुष्य दुनिया के बाहर रहनेवाला कोई अमूर्त अस्तित्व नहीं है। वह राज्य, समाज, मनुष्य की दुनिया का है। यह राज्य और यह समाज ही धर्म को जन्म देता है, जो कि दुनिया के बारे में विपरीत (उल्टी) चेतना है, क्योंकि वे एक व्यतिक्रमित (उल्टी) दुनिया में हैं।

धर्म इस दुनिया के बारे में एक सामान्य सिद्धांत है, इसकी सर्वज्ञानसंपन्नता, लोकप्रिय रूप में इसकी तार्किकता, इसमें मौजूद आध्यात्मिकता के बिंदु, इसका उत्साह, इसकी नैतिक अनुशस्तियां, इसकी रहस्यमय पूर्णता और सांत्वना व न्याय के लिए इसका सार्वभौम आश्वासन ही यह सामान्य सिद्धांत है। यह मानवीय सार का काल्पनिक बोध है, क्योंकि मानवीय सार ने कोई भी सच्चाई नहीं अर्जित की है। इस तरह से धर्म के विरुद्ध संघर्ष अप्रत्यक्ष रूप से उस दुनिया के विरुद्ध संघर्ष हो जाता है, जिसकी आध्यात्मिक सुगंध धर्म है।' अब यहां यह समझने में आसानी हो पाएगी कि स्वामी जी द्वारा सनातन धर्म से विद्रोह का तात्पर्य मात्र पंथ परिवर्तन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह विद्रोह तत्कालीन वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में तब्दील हो जाता है। जाहिर सी बात है कि सहजानंद सरस्वती के संदर्भ में इस वैचारिक विकास को समझने के लिए इस बात पर ध्यान देना होगा कि वह सामाजिक संरचनाओं को समझने के लिए कौन सा मापदण्ड अपनाते हैं। कुबेर जी ने स्वामी जी के संदर्भ में इस तथ्य को रेखांकित करने में कोई चूक नहीं की है। '1934 में बिहार में भूकम्प के दौरान गांधीपथ से सदा-सर्वदा के लिए उनका मोहभंग हुआ। 1936 और इसके बाद कम्युनिस्टों के साथ होकर विराट स्तर पर किसान आंदोलनों का नेतृत्व किया। किसानों से जुड़ाव इतना हुआ कि ईश्वर तक छोड़ दिया, ठीक उसी तरह से जैसे गांधी ने छोड़ा था। जैसे गांधी के लिए सत्य ईश्वर हो गया, उसी तरह स्वामी जी के लिए छोटा किसान ही ईश्वर हो गया.... यह बड़े जमीदारों से लुटता, निरीह छोटा किसान और मजदूर था जिसका नेतृत्व स्वामी जी ने किया।'

स्वामी जी कांग्रेस से मोहभंग के कारण जितने सामान्य प्रतीत होते हैं, वे उतने हैं नहीं। और इसके पीछे उनके वैचारिक विकास का तर्क सबसे प्रबल है। सरदार पटेल के बारे में अभी तक बारदौली के किसान संघर्ष को केंद्रीय शक्ति माना जाता है। लेकिन स्वयं सहजानंद सरस्वती ने सरदार पटेल की भूमिका का मूल्यांकन कुछ इस तरह से किया था, 'लोग अभी भी समझते थे कि बारदौली में जो लड़ाई या सत्याग्रह हुआ, जिसके चलते श्री बल्लभ भाई सरदार और किसान हितैषी साबित हुए, वह किसानों की लड़ाई थी। मैं भी यही समझता था। मगर वहां जाने पर पता चला कि वह लड़ाई तो उन्हीं साहूकारों और धनिकों की थी, जिनकी संख्या दस से पंद्रह प्रतिशत से ज्यादा नहीं।'

तात्पर्य यह कि स्वामी सहजानंद सरस्वती के राजनीतिक विचारों और उनकी धार्मिक भावनाओं के बीच द्वैत की स्थिति निर्धारित करने के कारण कुबेर जी के निबंधों के कुछेक निष्कर्षों से असहमति होना स्वाभाविक है। इसका एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि कुबेर जी लगातार अपने निबंधों में मार्क्सवाद विरोधी वैचारिक स्थिति को स्पष्ट करते जाते हैं। उदाहरण के लिए 'भारत के आधुनिक वामपंथियों में बहुत कम ऐसे रहे हैं जिन्हें देश की सही सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान रही है और सौ में से नब्बे 'रजनीपाम दत्त' टाइप के बुद्धिजीवी रहे हैं जो मैकाले के वांछित लक्ष्य के अनुरूप देशी भावबोध और संस्कारों से 'आउटसाइडर' (बेगाना) रहकर (गो कि यह बेगानापन स्वयं आरोपित बेगानापन है) देश की समस्याओं पर मार्क्सवादी साहित्य की किताबी भाषा में सोचते और फतवे देते रहे हैं।' इस तरह की भाषा और आलोचना किंचित संशय ही उत्पन्न करती है कि निबंधकार की मार्क्सवाद के बारे में समझ मार्क्सवाद के मूल सिद्धांतों को आत्मसात कर नहीं निर्मित हुई है। इसके बावजूद भारतीय साहित्य की परम्परा में 'मेरा जीवन संघर्ष' कितनी महत्वपूर्ण कृति है, यह मूल्य निर्धारित करने में निबंधकार कोई चूक नहीं करता है। '.....चर्चिल का 'द हिज्ज ऑव फेट' या जवाहरलाल नेहरू की 'एन ऑटोबायोग्राफी' इस द्वितीय कोटि के उत्तम उदाहरण हैं। स्वामी सहजानंद का 'मेरा जीवन संघर्ष' इसी कोटि में आता है। ऐसी आत्मकथाएं साहित्य नहीं बल्कि इतिहास के अंतर्गत आती हैं। ये पुराने बादशाहों के 'अकबरनामा' और 'जहांगीरनामा' की परम्परा के ज्यादा करीब हैं।'

सारभूत रूप से यह कहा जा सकता है कि स्वामी सहजानंद सरस्वती पर कुबेरनाथ राय के निबंध साहित्य की सामाजिकी की दृष्टि से बड़े मूल्यवान हैं। इसके साथ स्वामी जी के राजनीतिक व निजी जीवन के अंतर्वलयों पर आधारित इन निबंधों से पाठकों को जहां एक ओर स्वामी जी के विचारों का पता चल पाता है, वहीं कुबेरनाथ राय के सरोकारों का भी आभास हो पाता है। इन निबंधों का डॉ. मुहम्मद हारून रशीद खान ने सुरुचि के साथ संपादन किया है। साथ ही संपादकीय के अंतर्गत उन कई प्रश्नों पर एक संवेदनशील चिंतक के नजरिए से विचार किया है, जिन्हें कुबेरनाथ राय ने स्वामी जी के संदर्भ में सरलीकृत ढ़ंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ✱

(लेखक हिंदी के आलोचक हैं।)

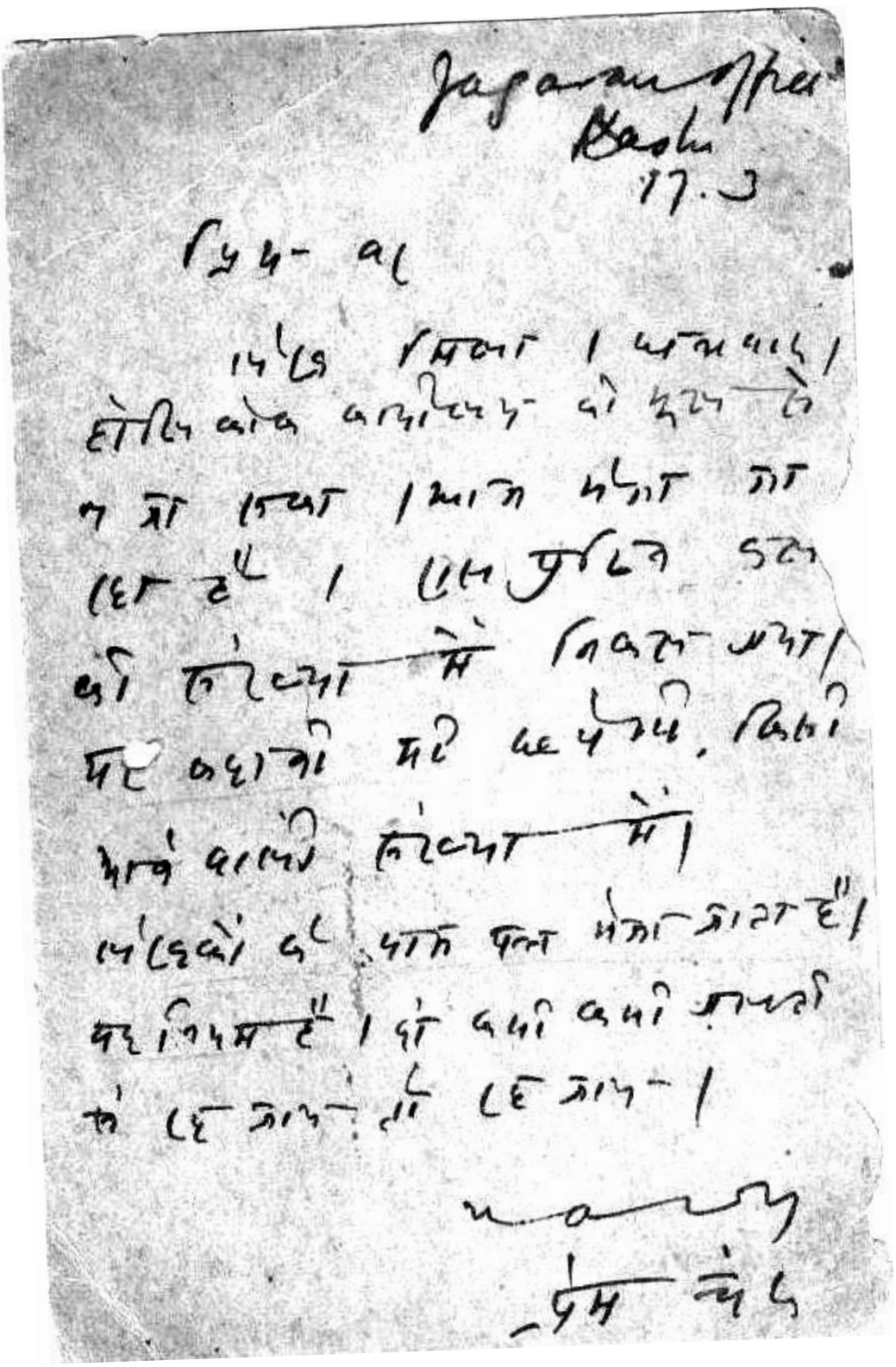

कथा सम्राट प्रेमचंद द्वारा श्री तारकेश्वर प्रसाद को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।

समीक्षा

देश की तस्वीर

■ प्रेमपाल शर्मा

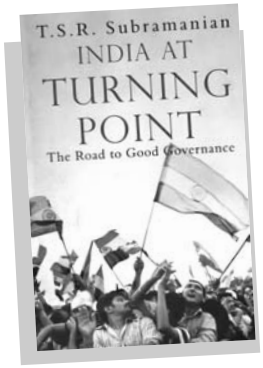

पुस्तक: इंडिया एट टर्निंग प्वाइंट
लेखक: टी.एस.आर. सुब्रमणियन.
प्रकाशक: रूपा प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष: 2014
मूल्य: ₹595/-

नौकरशाही से निकले बुद्धिजीवियों में टी.एस.आर.सुब्रमणियन अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। पूर्व कैबिनेट सचिव रहे सुब्रमणियन ने पिछले 10-15 वर्षों में देश की विविध समस्याओं पर धुआंधार लिखा है। जब-तब टीवी के चैनलों में भी उनकी उपस्थिति देखी जा सकती है। शासन-प्रशासन, नियम, कानून, सिविल सेवा जैसे सभी ज्वलंत प्रश्नों को लपेटे उनकी नयी किताब 'इंडिया एट टर्निंग प्वाइंट' हाल ही में आई है। इसे उनकी पिछली किताब 'जर्नी थ्रू बाबूडम एंड नेताडम' की अगली कड़ी के रूप में भी देखा जा सकता है। 'बाबूडम एंड नेताडम' बहुत कुछ उनकी जीवन यात्रा समेटे हुए थी, उत्तर प्रदेश के इटावा में अपनी कलक्टरी से शुरू करते हुए केन्द्र में संयुक्त सचिव, सचिव से लेकर कैबिनेट सचिव तक के अनेक प्रसंग। 1996 से 1998 तक वे कैबिनेट सचिव रहे और दो प्रधानमंत्रियों देवगौड़ा और आई.के. गुजराल के साथ काम किया।

यह किताब भी सुब्रमणियन की बेबाकी के लिए काफी चर्चित रही थी। नयी किताब पिछली पुस्तक से छोटी जरूर है लेकिन इसके 18 अध्यायों में सीधे उन प्रश्नों से मुठभेड़ की गई है जो एक बेहतर लोकतंत्र के लिए पूरी सत्ता के सामने चुनौती हैं। कुछ चुनिंदा शीर्षक हैं -1. आधुनिकता क्या है? परम्परा का नकार? 2. क्या केवल विकास दर ही आर्थिक संपन्नता का नाम है? 3. सी.बी.आई. को क्यों ठीक करने की जरूरत है? 4. संविद सरकार के नफे-नुकसान 5. सिविल सेवाओं में सुधार की दिशा 6. मीडिया की भूमिका 7. स्कूल-कॉलिज के मस्त दिन आदि-आदि।

विचार के स्तर पर जो बुद्धिजीवी इस देश की समस्याओं से जूझ रहे हैं वे भी और एक आमजन भी इनमें से किसी भी अध्याय से बचकर नहीं जा सकता। पिछली तीन केन्द्र सरकारें संविद सरकार रही हैं। देश के संघीय ढांचे के अनुरूप ऐसी सरकार में लोकतंत्र वाकई झलकता जरूर है लेकिन दबाव और लेन-देन की राजनीति के चलते बेहतर प्रशासन ऐसी सरकारें नहीं दे पाईं। चाहे पड़ोसियों के साथ संबंध हों या देश की आंतरिक नीतियां, रेल के किराये हों या आतंकवादियों से लड़ने की हिम्मत। सरकार को बचाने और गिराने की रस्सी पर चलते हुए दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र बार-बार लड़खड़ाता रहा है। यह अध्याय विशेष रूप से राजनीतिक पंडितों के लिए जरूरी है।

इतना ही महत्वपूर्ण अध्याय सीबीआई की जरूरत को लेकर है। ध्यान दीजिए यह किताब नौकरशाही के सर्वोच्च शिखर पर रहे एक कैबिनेट सचिव ने लिखी है और जब वे स्वयं सीबीआई के कारनामों का बखान करते हैं तो देश की इस मुख्य एजेंसी पर संदेह होना स्वाभाविक है। इस लेख में उन्होंने केवल सिद्धांतों में ही अपनी बात नहीं कही बल्कि उदाहरणों से अपनी बात को स्पष्ट किया है। इनमें एक उनका व्यक्तिगत अनुभव भी शामिल है, जब अनाज का आयात किया गया और पूरी पारदर्शिता के साथ तत्कालीन सरकार ने अनुमति दी। बावजूद इसके कई सालों के बाद खुद सुब्रमणियन की भूमिका को लेकर मामला शुरू किया गया।

सुब्रमणियन लिखते हैं कि सीबीआई कई

बार अपने राजनीतिक आकाओं के इशारे पर काम करती रही है और इसीलिए देश में भ्रष्टाचार या दूसरे कुशासन हावी होते चले गये हैं। हालांकि प्रश्न यह भी उठता है कि जब कैबिनेट सचिव भी ऐसी संस्थाओं पर लगाम लगाने में असफल नजर आते हैं तो फिर किससे उम्मीद करें।

एक महत्वपूर्ण अध्याय सिविल सेवाओं में सुधार को लेकर इस पुस्तक में शामिल है। आपको याद होगा, सुप्रीम कोर्ट में सिविल सेवाओं में सुधार के लिए दाखिल पीआईएल में सुब्रमणियन भी शामिल रहे हैं। अपने उत्तर प्रदेश के अनुभव और नौकरशाही के विभिन्न पदों के अपने अनुभवों से गुजरते हुए उन्हें बार-बार यह लगा कि जब तक अधिकारियों की पोस्टिंग, ट्रांसफर के मामले किसी 'ऑब्जेक्टिव' बोर्ड द्वारा संचालित नहीं होते और उन्हें एक निश्चित अवधि तक रहने और काम करने का मौका नहीं दिया जाता तब तक देश के ये वरिष्ठ नौकरशाह अपनी भूमिका ठीक ढंग से नहीं निभा सकते।

पुस्तक में शामिल दर्जनों उदाहरण नौकरशाही और राजनेताओं के बीच बदलते समीकरण की पीड़ा भी दर्शाते हैं। सिविल सेवाओं में सुधार के अध्याय में वे लिखते हैं कि आजादी के तुरंत बाद राजनीति और नौकरशाही के बीच संबंध बहुत कुछ बराबरी के कहे जा सकते हैं। हालांकि बॉस तो राजनेता ही होता था लेकिन वे अपने सचिव या मुख्य सचिव को भी ठीक-ठाक तरजीह देते थे लेकिन 90 के बाद तस्वीर बहुत निराशाजनक होती जा रही है। विशेषकर हिन्दी प्रदेशों की। उन्होंने बिहार के एक पूर्व मंत्री का नाम लेकर लिखा है - 'बात करते वक्त अक्सर उनके मुंह से पान की पीक उनके अधिकारियों के मुंह पर गिर जाती थी। एक-दो ने तो इसी कारण से अपना ट्रांसफर चाहा लेकिन ज्यादातर अपना मुंह भी नहीं खोल पाते।'

धीरे-धीरे नौकरशाह जो कभी अपने मंत्रियों के बराबर में बैठते थे अब वे दूसरी से चौथी पंक्ति में बैठे होते हैं। ऐसे विवरण सुब्रमणियन की पिछली पुस्तक में भी मिलते हैं जो नौकरशाही और देश के लोकतंत्र दोनों के लिए दु:खद स्थितियां हैं। हिन्दी पट्टी के राजनेताओं द्वारा नौकरशाही की इस अवमानना के किस्सों के चलते भी इस देश के मेधावी नौजवान इन सेवाओं में कम रुचि लेने लगे हैं। नौकरशाही की चापलूस और रीढ़विहीन जमातों के बारे में भी जगह-जगह रोचक टिप्पणियां मिलती हैं।

एक बहुत रोचक अध्याय है 'स्कूल कॉलेज के मस्त दिन'। बहुत खिलंदड़ी अंदाज में यह लेख लिखा गया है। सुब्रमणियन की प्रारंभिक शिक्षा कलकत्ता (अब कोलकाता) में हुई। उसके बाद उन्हें तंजौर (तमिलनाडु) यानी उनके गृह राज्य भेज दिया गया। वे लिखते हैं, 'तंजौर में पढ़ाई का माध्यम तमिल था और इंग्लिश और संस्कृत कमश: पहली और दूसरी भाषाएं।' भाषा सीखने की पूरी प्रक्रिया पर भी इस लेख में उन्होंने बड़ी पते की बात कही है। वे कहते हैं कि भाषा सीखने का सबसे आसान रास्ता है उस भाषा की छोटी-छोटी आसान कहानियां पढ़ना।

व्याकरण से भाषा सीखना बहुत मुश्किल होता है। उन्होंने लिखा है कि वे इसीलिए 2013 में संघ लोक सेवा आयोग द्वारा जारी उस अधिसूचना से सहमत नहीं थे जिसके द्वारा बिना भारतीय भाषाएं जाने आप केन्द्रीय सेवाओं में आ सकते हैं। वे खुद इस बात के हिमायती हैं कि देश के प्रशासकों को अपनी भाषाएं आनी ही चाहिए। स्कूल-कॉलेजों से होते हुए तंजौर में पढ़ाई के बाद उन्हें फिर कलकत्ता आना पड़ा। और तमिल माध्यम छोड़कर अंग्रेजी माध्यम में पढ़ने में शुरू में बहुत दिक्कत आई।

उन्होंने कई उदाहरणों के साथ अपनी परेशानियां गिनाईं हैं, इस निष्कर्ष के साथ कि अपनी भाषाओं में पढ़ने से पढ़ाई-लिखाई कितनी आसान हो जाती है। संस्कृत और तमिल के आधार से उत्तर प्रदेश कैडर आबंटित होने पर उन्हें हिन्दी सीखने में कोई दिक्कत नहीं हुई। सुब्रमणियन शिक्षा को देश के परिवर्तन का एक सबसे सशक्त औजार मानते हैं। एक पूरा

'आजादी के तुरंत बाद राजनीति और नौकरशाही के बीच संबंध बहुत कुछ बराबरी के कहे जा सकते हैं। हालांकि बॉस तो राजनेता ही होता था लेकिन वे अपने सचिव या मुख्य सचिव को भी ठीक-ठाक तरजीह देते थे लेकिन 90 के बाद तस्वीर बहुत निराशाजनक होती जा रही है। विशेषकर हिन्दी प्रदेशों की।

जे पी त्रिपाठी की कृति

अध्याय पुस्तक में शिक्षा पर ही है।

उन्होंने जीवन के एक उदाहरण से अपनी बात शुरू की है कि कैसे सुदीक्षा नाम की एक गरीब आदिवासी लड़की को विद्याज्ञान नाम के एक स्कूल में लाया गया। जिस लड़की को शुरू में अपनी ही भाषा नहीं आती थी, अंग्रेजी की तो बात ही छोड़ो वह कुछ ही दिनों में क्लास के अव्वल बच्चों में से एक थी।

हम देश के बच्चों को यही अवसर देने में असफल हुए हैं और यही अवसर जब इन नौजवानों को विदेशों में मिलता है तो वे नयी ऊंचाइयां छूने लगते हैं। देश की मौजूदा स्थितियों पर दिये गये सैकड़ों उदाहरणों में से एक का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। अपनी नौकरी के दौरान एक प्रशिक्षण के सिलसिले में वे लंदन में थे और लंदन की मैट्रो रेलवे जिसे 'ट्यूब' कहा जाता है उसमें यात्रा कर रहे थे। एक सज्जन एक छाते और ब्रीफकेस के साथ बैठ गये। आसपास बैठे लोगों ने उन्हें एक बार तो उत्सुकता से देखा और फिर अपने-अपने अखबार में तल्लीन हो गये। बाद में किसी ने बताया कि ये यहां के प्रधानमंत्री थे। क्या आजाद भारत में आप बराबरी की ऐसी मिसाल खोज सकते हैं? इसीलिए सुब्रमणियन ने इस किताब को देश के उन गरीबों को समर्पित किया है जिनके उद्धार के नाम पर यहां के लोकतंत्र में सरकार बनती है लेकिन छाछठ साल का अनुभव बताता है कि इस कुशासन और दुर्व्यवस्था का सबसे बड़ा शिकार यही गरीब जनता है। वे दुखी स्वर में कहते हैं कि अभी तक तो हम देश की जनता को बिजली, पानी भी नहीं दे पाए। काश! देश के दूसरे नौकरशाह भी देश के गरीबों के प्रति ऐसी प्रतिबद्धता रखते और इतनी ही बेबाकी से इन प्रश्नों को उठा पाते। ✱

(*लेखक वरिष्ठ चिंतक हैं।*)

समीक्षा

भारतीय समाज का एक सच यह भी

■ सत्यकाम

कभी-कभी कोई किताब पढ़कर अवाक रह जाना पड़ता है और ऐसा तब होता है जब पर्दे उठते हैं, शीशे के घर टूटते हैं और बिलकुल नया परिदृश्य सामने आता है। ऐसी पुस्तकें इतिहास बदलती हैं, आत्मावलोकन के लिए आलोड़ित करती हैं, हमारे 'ज्ञान' के बंधनों को अतिक्रमित करती हैं। ऐसी ही पुस्तक है स्फुरना देवी रचित 'अबलाओं का इन्साफ़' जिसकी खोज, संकलन और संपादन युवा शोधार्थी नैया ने किया है। नैया ने अपनी कश्ती को ज्ञान के सागर में डाला जिसने उन्हें ऐसी जगह पहुंचाया है जहां से उन्हें मिला अमूल्य खजाना 'अबलाओं का इन्साफ़'। शोधार्थी के अनुसार यह आधुनिक हिंदी की प्रथम 'स्त्री-आत्मकथा' है।

तो पहले बात यहीं से शुरू करें कि यह कृति है क्या, कथा है, आत्मकथा है, जीवनी है, संस्मरण है, रिपोर्ताज है, रेखाचित्र है, क्योंकि इस कृति में इन सबके गुण मौजूद हैं। यदि यह केवल स्फुरना देवी का आत्मकथन और अपने बारे में कही गई कथा होती तो बिना किसी संकोच इसे आत्मकथा के थैले में डाल दिया जाता। पर इसे इस थैले में नहीं डाला जा सकता; इससे इस कृति की महत्ता सिमट जाएगी। क्लासिक कृतियां किसी बाड़े का मोहताज नहीं होतीं, उनका व्यक्तित्व ही उनकी विधा भी होती है, शैली भी और कथ्य/वस्तु/कहन भी।

लेखिकाओं के अनुसार 'इन आत्मकथाओं में जिन घटनाओं का वर्णन आया है, वे मिथ्या कल्पनाएं नहीं हैं।... ये आत्मकथाएं अधिकतर अबलाओं की सच्ची जीवनियों के आधार पर लिखी गई हैं;.... इसलिए मैंने थोड़े से नामों की कल्पना करके, उनके वर्णनों में अनेक अत्याचार-पीड़ित व्यक्तियों की आत्मकथाओं का संक्षेप में समावेश करते हुए, समाज की दुर्दशा का दिग्दर्शन-मात्र करा दिया है। इस तरह की आत्मकथाएं सच्ची हों, तो भी उनके संबंध के व्यक्तियों के सच्चे नाम लिखना अनेक कारणों से ठीक नहीं। अत: इस लेख में व्यक्तियों के नाम यद्यपि बदले गए हैं और कहीं-कहीं कल्पित भी किए गए हैं; परंतु अत्याचार कल्पित नहीं है। उन वर्णनों का एक-एक अक्षर सत्य घटनाओं के आधार पर लिखा गया है; इनमें अत्युक्ति कहीं भी नहीं आने पाई।'

'अबलाओं का इन्साफ़' में स्फुरना देवी के अलावा 'कृष्णा', 'भानमती', 'सुशीला', 'गंगा', 'मनोरमा', 'आनन्दी', 'कमला' का बयान और क्षमा (सहनशीलता) देवी की बहस शामिल है। इस कथा की शुरुआत नाटकीय अंदाज में की गई है। किताब प्रेक्षागृह की तरह खुलती है और सामने होता है एक मंच। धीरे-धीरे सारी बत्तियां मद्धिम होने लगती हैं और मंच प्रकाशित होने लगता है। सामने अद्‌भुत दृश्य प्रकट होता है, जिसमें धर्मराज आसन पर विराजे हैं, दृश्य आप खुद देख लीजिए-

'पाठक-पाठिकाओं! जरा एकाग्रचित होकर अपनी मनोवृत्ति को मेरे साथ धर्मराज की कचहरी की शोभा देखने के लिए भेजिए। धर्मराज के मंदिर में एक बहुत ऊंचे स्टेज पर रत्न-जटित सिंहासन पर धर्मराज विराज रहे हैं। पास ही दाहिनी ओर एक गद्‌दे पर चित्रगुप्त जी अपना दफ़्तर लिए बैठे हैं; और उनसे सटकर अनेक छोटे-छोटे सिंहासनों पर देवता एवं देवियां बैठी हैं,

पुस्तक: अबलाओं का इंसाफ
लेखिका : स्फुरना देवी
संपादक: नैया
प्रकाशक: राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2013
मूल्य: ₹350/-

एम. एफ. हुसैन की एक कृति

जिनमें मुख्य ये हैं - ज्ञान, आस्तेय, भक्ति, आस्तिकता, सत्य, परोपकार, अहिंसा, शाम (मनोनिग्रह), दम (इंद्रिय-निग्रह), यज्ञ, तप, दान, अभय, स्वाध्याय (सत्-शास्त्रों का अध्ययन), सत्संग, आर्जव (सरलता), पवित्रता, अक्रोध, वैराग्य, संतोष, शील, अपैशुन्य (निन्दा व चुगली न करना), प्रेम, शिष्टाचार, गंभीरता, तेज, क्षमा (सहनशीलता), धैर्य, निर्वैर, साम्यभाव, आचार्योपासना (गुरु-पूजन), वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, कर्त्तव्य-परायणता और कृतज्ञता! बाईं तरफ एक कठघरे के अंदर पुण्यात्मा और पापी अपने-अपने इन्साफ़ की बाट देखते हैं। पुण्यात्मा जीव कुर्सियों पर बैठे हैं; और पापी खड़े हैं। धर्मराज के पीछे दाहिनी तरफ पारिषद और बाईं तरफ यमदूत कतार बांधे खड़े हैं।'

कथा शैली का यह नमूना परम्परागत भारतीय शैली के कथा वाचन और नाट्य वाचन का अनुगमन है। स्फुरना देवी ने लिखा है कि यह मेरी कल्पना है। आधुनिक भारतीय कथा साहित्य का आरंभ बिलकुल इसी शैली में हुआ पर यूरोपीय प्रभाव के परिणामस्वरूप इस कथा शैली से कथाकार कटने लगे पर परम्परा छूटी नहीं और पाठकों को संबोधित करने, उन्हें शामिल करने का दौर चलता रहा। तो पहली बात कि यह रचना भारतीय कथा और नाट्य परम्परा का एक उत्कृष्ट प्रतिफलन है। इसे आत्मकथा कहने में जरा संकोच होता है क्योंकि यहां केवल लेखिका ने अपनी कहानी नहीं कही है बल्कि कई स्त्रियों की आपबीती उनके मुख से सुनवाई है, पर इसमें सब जैसे का तैसा होने का दावा नहीं है, बल्कि कल्पना का सहारा लेने की बात कही गई है इसलिए आत्मकथा नहीं बल्कि आत्मकथात्मक ढांचे में रखी गई/कही गई कथा है जो सच को बिलकुल सच के रूप में प्रस्तुत करने का ही एक प्रयास है।

अगर हम कहें कि इस कृति में जो कुछ बयान है, वह सच है, तो भयानक है। विद्रूपता से भरी हैं ये कथाएं। विश्वास नहीं होता कि जिस 'महान' भारतीय परम्परा का हम दम्भ भरते हैं वह ऐसी कुत्सित और घृणित है। पर दावा है कि यह सच है। वस्तुत: यह कथा बलात्कारों का बयान है। हर कथा में हर पृष्ठ पर स्त्री ने अपने बलात्कार का बयान खुद किया है। समाज का हर व्यक्ति परिवार के भीतर और बाहर स्त्रियों का बलात्कार करने की ताक में लगा है। स्त्री घर में रहती है तो पिता, भाई, जीजा, फूफा बलात्कार करते हैं, बाहर जाती है तो पंडे, पुजारी, सेठ आदि। पूरी पुस्तक इस रहस्य का पर्दाफाश करती है कि भारतीय समाज में स्त्री को वेश्या से अधिक कुछ समझा ही नहीं गया। स्त्री की पूजा करना नाटक है, उस पूजा में भोग वृत्ति प्रबल है। पूजा, पर्दा, घूंघट सब

ओट का काम करते हैं, स्त्री को भोगने के ये सब उपादान बनाए गए हैं।

गजब है कि ये सारी महिलाएं 'कुलीन' ब्राह्मण समाज से हैं और इस समाज की स्त्रियों की स्थिति वेश्या से भी बदतर है क्योंकि वेश्या तो बाजार में बैठी है और अपनी मनमर्जी से सौदा तय करती है पर घर में पड़ी स्त्री का तो बलात्कार होता है और धीरे-धीरे वह उसे सामान्य नियम मान लेती है! जब हमारे नेतागण यह कहते हैं कि लड़कों से कभी-कभी गलतियां हो जाती हैं तो वे उसी भारतीय परम्परा का प्रतिनिधित्व कर रहे होते हैं, जिसका उद्घाटन 'अबलाओं के इन्साफ़' में हुआ है। स्त्रियों की बलात्कार कथा सुनकर धर्मराज इन नेताओं की तरह स्त्रियों को दोषी नहीं मानते बल्कि इसके लिए समाज और पुरुष को दोषी मानते हैं और इसे बदलने पर जोर देते हैं।

'धर्मराज- देवी-देवतागणों! इन अपराधी स्त्रियों के बयान तथा उन पर क्षमा देवी की टिप्पणी हम लोगों ने अच्छी तरह ध्यानपूर्वक सुनी। वास्तव में क्षमा देवी का कथन बिल्कुल सत्य है कि इस समाज में स्त्रियों द्वारा जो व्याभिचारादि कुकर्म एवं भ्रूण-हत्या आदि घोर पाप होते हैं, उनका दायित्व स्त्रियों पर कुछ भी नहीं, सब पुरुषों पर ही है; क्योंकि इन लोगों ने समाज में प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध व्यवस्थाएं प्रचलित कर रखी हैं, जिनके कारण स्त्रियों को विवश होकर पापाचरण करने पड़ते हैं।.... इसलिए पापों का सबसे अधिक दंड इनको ही मिलना चाहिए।'

उपर्युक्त वक्तव्य आज के स्त्री विमर्श से सीधा जुड़ता है और आज के स्त्री विमर्श से ज्यादा संतुलित, विश्लेषणपरक और वास्तविक है। इसमें पूरे भारतीय समाज के ढांचे और मानसिकता को कठघरे में खड़ा किया गया है और उन्हें दंडित करने की बात की गई है जो इसके

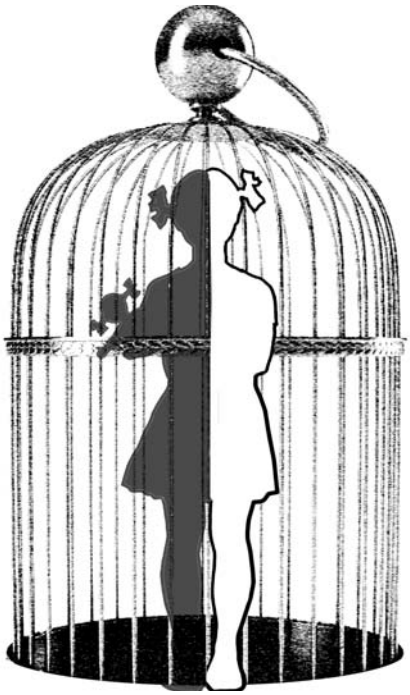

जे पी त्रिपाठी का रेखांकन

लिए जिम्मेदार हैं। स्त्रियां मुकदमा जीत जाती हैं और सजा मिलती है - धर्माचारी, गुरु, महंत, विद्वान, पंडित, बुद्धिमान पंच और नेताओं को। आज भी हमारा समाज इस सत्य को स्वीकार नहीं कर सका है।

स्फुरना देवी कृत 'अबलाओं का इन्साफ़' भारतीय स्त्री विमर्श का घोषणापत्र है जिसको 'योजनाबद्ध' ढंग से दफन कर दिया गया था। गौरतलब है कि यह रचना भारतीय नवजागरण के दौरान लिखी गई थी पर किसी ने इसकी परवाह तक नहीं की, हिंदी आलोचना में इसका जिक्र तक नहीं हुआ। गोपाल राय के हिंदी उपन्यास कोश में कई आरंभिक स्त्री कथाकारों की चर्चा की गई है जैसे 'किसी साध्वी सती प्राणा अबला लिखित 'सुहासिनी' (1890)', 'श्रीमती हरदेवी लिखित 'हुकुमदेवी' (1893)', 'श्रीमती प्रियंवदा देवी लिखित 'लक्ष्मी' (1908)', 'श्रीमती कुन्ती देवी लिखित 'पार्वती' (1909)', 'श्रीमती हेमन्त कुमारी चौधरी लिखित 'आदर्श माता' (1912)'। शोधार्थी ने गोपाल राय के इस काम को आगे बढ़ाया है और उन्होंने कई और महिला उपन्यासकारों की चर्चा की है। इन उपन्यासों को तरजीह न दिए जाने पर नैया आलोचकों की मंशा पर सवाल उठाती है जो वाजिब है:

'हिंदी नवजागरण का अधिकतर पुरुष-लेखन भी हिंदू-धर्म की उन परम्परागत मान्यताओं और अवधारणाओं से अटा पड़ा है, जिसमें नारी को नरक का द्वार तथा माया का दुर्ग माना गया है।'

स्त्री लेखन या स्त्री प्रश्न को हिंदी नवजागरण से दरकिनार किया जाना गंभीर मसला है और नैया से मैं सहमत हूं कि 'राष्ट्रवाद के अतिरेक और दम्भी पुरुष मानसिकता के चलते स्त्री-लेखन और स्त्री-प्रश्न हिंदी नवजागरण से लगभग पूरी तरह गायब कर दिए गए। वरना यह ऐसा दौर था यदि गंभीरतापूर्वक और पूरी ईमानदारी से इन दोनों को जगह दी जाती, तो हिंदी नवजागरण का एक अलग रूप हमारे सामने होता।' ✱

(लेखक हिंदी के प्राध्यापक एवं वरिष्ठ आलोचक हैं।)

समीक्षा

रेणु का रचना संसार

■ राजकुमार

भारत यायावर की छवि फणीश्वरनाथ रेणु के संपादक, आलोचक और पाठक के तौर पर बनी है। यूं तो उन्होंने महावीर प्रसाद द्विवेदी की रचनाओं का भी संकलन-संपादन किया है लेकिन उनका मन रेणु में ही रमा। वे रेणु को ही अपना आदर्श लेखक बनाते हैं / बताते हैं। इसी रूप में पहचाना जाना उन्हें स्वीकार है। वे कहते हैं, 'मैं रेणु के देहावसान के बाद रेणुमय होता चला गया। रेणु पर लिखी नयी पुस्तक 'रेणु का है अंदाजे बयां और' के साथ अपने मत को उन्होंने और ज्यादा दृढ़ किया है। वे रेणु की जिंदगी और रचनाओं के माध्यम से झांकने वाली आख्यानमूलक कहानियों और समालोचनाओं के साथ सामने आते हैं। यही कारण है कि यह पुस्तक रेणु की जीवनी की पूर्वपीठिका लगती है।

भारत यायावर रेणु की जीवनी लिखने के बेहद करीब हैं। उन्होंने रेणु की जिंदगी के आत्मकथ्यों, संस्मरणों, बयानों, पत्रों, जनश्रुतियों व रचनाओं से इतनी अंतरंगता बना ली है कि रेणु की मुकम्मल जीवनी लिखी जा सकती है। कहना न होगा कि यह पुस्तक एक साथ ही रचना और आलोचना का आस्वाद कराती है। इसमें एक तरफ रेणु की जिंदगी की कितनी कही-अनकही कहानियां मौजूद हैं तो दूसरी तरफ पाठालोचन और अनुसंधानात्मक आलोचनाएं। संभवत: हिंदी में रेणु पर अकेली ऐसी मुकम्मल पुस्तक है जो उनकी जिंदगी, राजनीतिक-सामाजिक कर्म के साथ के साहित्यिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों को भी समेटती है।

बीसवीं सदी के महान लेखकों में शुमार रेणु के कथा साहित्य की बहुत चर्चा हुई है। 'मैला आंचल' को न सिर्फ भारतीय भाषाओं के साहित्य में श्रेष्ठ उपन्यास का दर्जा हासिल है बल्कि कई आलोचक तो विश्वस्तरीय उपन्यासों में शामिल करते हैं। 'परती परिकथा' और अन्य कहानियां भी बहुपठित एवं बहुप्रशंसित हैं। एक कवि के रूप में और रिपोर्ताज लेखक के रूप में रेणु की चर्चा लगभग नहीं के बराबर हुई है। भारत यायावर ने इन पर स्वतंत्र निबंध लिखकर इस कमी को पूरा किया है।

हिंदी आलोचना रेणु के उपन्यासों और कहानियों से आगे नहीं बढ़ी। अव्वल तो रेणु के रिपोर्ताज न सिर्फ उल्लेखनीय हैं बल्कि कई मायनों में कहानियों और उपन्यासों की तरह ही उच्च कोटि के हैं। कई बार यह भी अनुभव होता है कि रेणु का श्रेष्ठ लेखन यही है, जिसकी झलक भारत यायावर भी देते हैं। वे लिखते हैं कि जितने श्रम और तन्मयता से उपन्यासों और कहानियों को रचा गया है उतनी ही तन्मयता और श्रम से रिपोर्ताज भी। रेणु और उनके रिपोर्ताज एकाकार हैं। एक तरफ 'रिपोर्ताजों में रेणु' हैं तो दूसरी तरफ 'रेणु के रिपोर्ताज' हैं। 'रिपोर्ताजों में रेणु' में यायावर नोट करते हैं कि रेणु ग्रामीण मन वाले कथाकार हैं। उनका देखना किसान के नजरिए से होता था। उन्होंने जो सांस्कृतिक दृष्टि हासिल की थी वह स्वयं के किसानी जिंदगी, तजुर्बे, ग्रामीण समाज का प्रत्यक्ष अनुभव, गांव के ठेठ किसानों, उसकी बोलियों, वाणियों से हासिल हुई थी। परिवेश का समग्र अनुभव उनकी जिंदगी से होकर गुजरता था। भाषा की शक्ति उसमें निहित संगीत और ध्वनियों के कोलाज का अनुभव उनके बीच गुजारी रातों से हासिल हुई, जहां पूरी रात 'विदापत नाच', 'विदेसिया', 'ननदी भउजिया' और 'जालिम सिंह सिपहिया' जैसे संगीतात्मक लोकनाट्य खेले जाते थे। जब वे जीवन की विसंगतियों को उभारते थे या सामाजिक-राजनीतिक विद्रूपताओं को उदघाटित करते थे तो स्वर विद्रूप हो जाते

पुस्तक: रेणु का है अन्दाजे बयां और
लेखक: भारत यायावर
प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2014
मूल्य: ₹ 300

थे। व्यंग्य तीखा और गहरा होता था। 'भूख से तड़प-तड़पकर मरते मनुष्यों का दर्शन कराकर रेणु 'असली हिन्दुस्तान' का साक्षात्कार कराते हैं।

ग्रामीण अंचल की सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की जितनी विविध, बहुरंगी, व्यापक छवियां रेणु के यहां मिलती हैं, अन्यत्र नहीं है तो उसकी वजह अपार जीवनानुभव है। उस समाज के साथ रेणु का एंद्रिक जुड़ाव है। बेजुबानों, बेसहाराओं के प्रति करुणामय दृष्टि है। प्राकृतिक-मानवीय आपदाओं और त्रासदियों से घिरे समाज और जिंदगी को उठाकर उन्होंने उसे रिपोर्ताज बना दिया। लेकिन उसमें भी उन्होंने कल्पनाशीलता का परिचय दिया। रेणु के गद्य का हर टुकड़ा बेहद आत्मीय है। उसे वे सरस और संगीतमय बनाकर प्रस्तुत करते हैं। यथार्थ को कोरा यथार्थ नहीं रहने देते और उसे प्रकृतिवादी होने से भी बचाते हैं। रेणु ने रिपोर्ताजों में अपने जीवन के साथ-साथ घर, परिवार, परिवेश, साथी-संगी सबको उभारा है। ये चीजें उपन्यासों या कहानियों में नहीं उभरी हैं, इसलिए रिपोर्ताजों का अपना विशिष्ट महत्व है।

रिपोर्ताजों पर लिखे लंबे निबंध में यायावर दर्ज करते हैं कि तीस वर्षों में फैले रेणु के रिपोर्ताजों में 'रेणु के लेखन के विभिन्न मूड, जीवन स्थितियां, आस्था एवं लगाव पाठकों को दिखलाई पड़ेंगे। इनमें वस्तु या कथ्य की जितनी विविधता है, उतनी ही भाषा शैली की भी'। वे लिखते हैं कि रेणु ने इन रिपोर्ताजों में एक साथ ही कई विधाओं का प्रयोग किया है। कहानी, रिपोर्ट, संस्मरण, डायरी, निबंध, यात्रा-संस्मरण आदि विधाओं को उसके अंदर समेट लिया है। यानी विधा के ढांचे की जकड़बंदी उन्हें स्वीकार नहीं थी। उसे प्रयोगधर्मी बनाते हैं। एक की सीमा के भीतर दूसरे को पिरोते हैं। उल्लेखनीय बात यह भी है कि इसमें अभिव्यक्त 'टोन' आंचलिकता का अतिक्रमण करते हैं।

रेणु का पूरा जीवन क्रांतिकारी रहा है। जिसकी चर्चा लगातार यायावर करते हैं। उनकी रचनाओं में आए प्रसंगों से जोड़ते हैं। उनके संघर्षों की कथाओं को बताते चलते हैं। अन्याय, भ्रष्टाचार, तानाशाही, साम्प्रदायिकता के खिलाफ चलने वाली लड़ाइयों को जीवन और साहित्य से अविछिन्न करते हैं। कथ्य के उद्घाटन के साथ रिपोर्ताजों की संरचना और शिल्प की भी चर्चा करते हैं। उन्हें भाषा का खिलाड़ी मानते हुए लिखते हैं कि रेणु लोकभाषा की परम्परा को सामने रखते हैं। और वे पाठकों को बाध्य करते हैं कि अर्द्ध-तत्सम शब्दों के अनुमानों का खेल खेलें। वे मानवेतर ध्वनियों से भी भाषा को समृद्ध करते हैं। उच्चारणों की दीर्घता या नकल बिल्कुल वैसी है जैसे कि पात्र हैं। पात्रों की बहुलता और उसके स्वर भी रेणु के शिल्प के वैभव हैं।

'शैलेन्द्र, रेणु और तीसरी कसम' एक दुर्लभ लेकिन बेहद रोचक निबंध है। इस निबंध में लेखक ने एक कहानी के फिल्म बनने की घटना पर प्रकाश डाला है। कहना न होगा, तीसरी कसम कहानी छपने से लेकर उसके ऊपर बने फिल्म की यात्रा तक की ढेरों जानकारियां दी गई हैं। फिल्मों में रेणु के प्रवेश से लेकर शैलेन्द्र, राजकपूर, बासु भट्टाचार्य के साथ बनने वाले संबंधों की भी एक रोचक कहानी जुड़ी है। भारत यायावर ने पहले शैलेन्द्र की काव्ययात्रा की चर्चा की है। उनकी मुखर राजनीतिक प्रतिबद्धता, लोकप्रियता, जनपक्षधरता और राष्ट्रीयता की चर्चा करते हुए बताते हैं कि पैसे के लिए गीत न लिखने और राजकपूर को लौटा देनेवाले शैलेन्द्र ने पैसे की मजबूरी में ही फिल्मी गीत लिखने शुरू किए। और शुरू से ही हिट गीत लिखे और फिल्मी दुनिया में अपनी अमिट छाप छोड़ी। राजकपूर के साथ उनके जो संबंध बने अंत तक कायम रहे। राजकपूर की ऊंचाइयों और उपलब्धियों में शैलेन्द्र के गीतों का भी हाथ है।

वे एक दिलचस्प बात यह बताते हैं कि सड़क पर, चौराहे पर, नुक्कड़ या किसी भी प्रकार के आंदोलन या हड़ताल में लगने वाले जनप्रिय नारे-'हर जोर-जुल्म की टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है' शैलेन्द्र का लिखा है। शैलेन्द्र ने लिखा था,'हर जोर-जुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है'। यह रेलवे

बीसवीं सदी के महान लेखकों में शुमार रेणु के कथा साहित्य की बहुत चर्चा हुई है। 'मैला आंचल' को न सिर्फ भारतीय भाषाओं के साहित्य में श्रेष्ठ उपन्यास का दर्जा हासिल है बल्कि कई आलोचक तो विश्वस्तरीय उपन्यासों में शामिल करते हैं।

JP TRIPATHI

कर्मचारियों के हड़ताल को जोर देने के लिए लिखा गया था। 1974 के आंदोलन के दौरान रेणु ने 'हड़ताल' की जगह 'संघर्ष' कर दिया। यायावर की आलोचकीय दृष्टि इस बात को ठीक ही पकड़ती है कि 'संघर्ष' कर देने से अर्थ व्याप्ति होती है। फिर दोनों की एक-दूसरे की रचनाओं के साथ गंभीर जुड़ाव की झलक मिलती है। तीसरी कसम कहानी पर फिल्म बनाने की अनुमति लेने खुद शैलेन्द्र आए थे। वे इस फिल्म के साथ इमोशनली जुड़ गए थे। उनकी जिद थी इस पर फिल्म बनाना। तमाम तरह के गतिरोध आते रहे लेकिन शैलेन्द्र डटे रहे। बजट भागता रहा लेकिन वे हिले नहीं। राजकपूर और वाहिदा रहमान तक को इस फिल्म से जोड़ने में शैलेन्द्र की भूमिका रही।

तीसरी कसम फिल्म प्रदर्शित होने तक बहुत सारी चीजें बिखर गयी थीं। बिमल राय का निधन हो चुका था। राजकपूर नाराज हो गए थे। फिल्म के वितरक नहीं थे। लोग पारिश्रमिक के लिए चढ़ आए थे। मुकदमा ठोका जा रहा था। यह फिल्म शैलेन्द्र का सपना था। इन सभी ने शैलेन्द्र को भीतर से तोड़ दिया। उनकी मृत्यु हो गयी। उनके गम में रेणु ने तीन साल तक कलम नहीं चलायी। वे मानते रहे कि उनकी वजह से शैलेन्द्र की अकाल मृत्यु हुई। दोनों एक-दूसरे के साथ बेहद भावात्मक रूप से जुड़ गए थे। इन दोनों को जोड़ती थी 'तीसरी कसम'। यायावर बताते हैं कि 'रेखाएं वृत्तचक्र' कहानी में रेणु ने अपने व्यक्तित्व में ही शैलेन्द्र, ऋत्विक घटक और राजकमल चौधरी को समाहित कर लिया था।

रेणु की कविताओं का अध्ययन यायावर ने किया है। बहुत ही साधारण तरीके से विश्लेषण हुआ है। जिस तरह उनका मन रिपोर्ताजों में रमा है, कविताओं में नहीं। वे रेणु का साम्य नागार्जुन से बिठाते हैं। दोनों में व्यवस्था के प्रति व्यंग्य है। इमर्जेंसी का तीखा विरोध वैसे ही है जैसे नागार्जुन में। रेणु की कविताओं में फैले साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, सांप्रदायिकता के विरोध की पड़ताल की गई है।

रेणु की कहानियों के अध्ययन में वे पाते हैं कि उन्होंने अपनी पार्टी और विचारधारा के प्रति लगाव और दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है। उनके भाव-बोध को राजनीति के तंतुओं के गुंजलक संचालित करते हैं। कई बार राजनीति 'आब्सेशन' के रूप में है तो कभी दु:स्वप्न के रूप में। राजनीतिक मूल्यों के क्षरण के ही परिदृश्य फैले पड़े हैं। नये रस से संचारित कहानियों के विश्लेषण की बारीक बुनावट की चर्चा भी करते हैं और गांव-इलाके के 'संवदिया' बन जाने की भी। संवदिया इस रूप में की वे आस-पास के गांवों, किसानों, मजदूरों की भूख और गरीबी की कहानियां कहते हैं। रंग और उल्लास भी रचते हैं। उसके मेले-ठेले भी ले आते हैं तो रससिक्त प्रेम भी।

वे नोट करते हैं कि रेणु की कहानियों में एक 'समूहगान' उपस्थित होता है। ध्वनियों, नादों व स्वरों का सामूहिक समुच्चय ही कहानियों को एकरेखीय होने से बचाता है। वे साधारण मनुष्य की रचना अपनी कथाओं में करते हैं। उनके द्वारा रचित मनुष्य न किसी पार्टी का झंडा उठाता है, न किसी धर्म का

या न किसी विचारधारा का। उनका साधारण मनुष्य 'सांस्कृतिक चेतना' से लैस है। उसमें साधारण मनुष्य की अच्छाइयां और बुराइयां, गुण और अवगुण है। वे गरीबी, अकाल, बीमारी, प्राकृतिक आपदाओं से लडते, संघर्ष करते हैं। वे मर भी जाते हैं लेकिन हार नहीं मानते। 'उनके पात्रों में एक दुर्दम्य जिजीविषा है'।

भारत यायावर रेणु की सभी कहानियों पर टिप्पणी करते चलते हैं। महत्वपूर्ण यह है कि उनकी कहानियां मानस में कैसे पैठी, कैसे वह रचना-प्रकिया का अंग बना, उसका देश-काल क्या है, उसमें निहित शिल्प संभावना क्या हैं, पात्रों की उपस्थिति और उसका विस्तार अन्य रचनाओं में कहां तक फैला, सबकी चर्चा करते हैं। 'प्राणों में घुले हुए रंग' के पात्र डाक्टर का विस्तार डा. प्रशांत के रूप में 'मैला आंचल' में देखते हैं। रेणु की रचनाएं, जीवन, युग, राजनीति, संघर्ष सबको एकाकार कर पढ़ने की कोशिश हुई है। वे लिखते हैं कि 'मैला आंचल' के प्रकाशन पूर्व लिखी कहानियों में भी एक बड़े कथाकार की झलक मिलती है। हर कहानी का वातावरण, कथानक, भाषा-शिल्प और वस्तु-सत्य अलग है। 'हर कहानी की बुनावट में नवीन शिल्प प्रयोग है'।

रेणु की कहानियों में 'टूटते जीवन मूल्यों व विघटन के क्षणों' को जिस रूप में मूर्त किया गया है उसकी भी चर्चा करते हैं। मनुष्य के हाहाकार और परिवेश को इन कहानियों के माध्यम से वाणी दी गयी है। एक किस्म से रेणु की कहानियों के पुनर्पाठ की कोशिश यायावर की आलोचना में दिखाई पडता है। यायावर रेणु के उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए 'मैला आंचल' के प्रकाशन और फिर उस रचना पर उठे विवाद, बहसें, तारीफें आदि को विस्तार से बताते हैं। आज के पाठकों और शोधार्थियों के लिए काफी नयी जानकारियां यहां उपलब्ध हैं। उन पत्रों के हवाले से वे बताते हैं कि कैसे पात्र का नाम डा. संतोष को डा. प्रशांत में बदला। यानी पहले संतोष नाम रखा फिर प्रशांत किया। वे उन पत्रों का हवाला देते हैं जिनमें रेणु की रचनात्मक प्रकिया शामिल है। रचना लिखने के लिए कैसी कसमकश चल रही थी। रेणु कैसे तात्कालिक घटनाओं पर निगाहें गड़ाये रहते थे। गांव के हर पहलू शामिल हो जाए। कोई सेक्शन या पात्र न छूटे इस कोशिश में लगे रहते थे।

रेणु 'मैला आंचल' के प्रकाशन पूर्व ही कहानियों और रिपोर्ताजों से चर्चा में आ चुके थे। इनके परिचय में उनकी भाषा की मौलिकता, स्थानीयता की पहचान की चर्चा होने लगी थी। लोगों ने प्रेमचंद से तुलना करना शुरू कर दिया था, ऐसी जानकारी यायावर देते हैं। उनके अनुसार, 'मैला आंचल' छपने के एक साल बाद ही श्रेष्ठ उपन्यासों की श्रेणी में आ गया था। दूसरी तरफ लोग विरोध में लेख लिख रहे थे। निम्न कोटि का उपन्यास साबित करने की कोशिश भी हुई। लोग भाषा और व्याकरण की अशुद्धियों की चर्चा कर रहे थे, कथानक के ध्वस्त हो जाने की, पात्रों की बहुलता की, नायक के गायब हो जाने की। मानहानि का मुकदमा दायर किया गया तथा उसे 'ढोंढाईचरितमानस' का नकल तक बताया गया। मैला आंचल से संबंधित हर घटना की जानकारी लेखक ने बड़ी ही बारीकी से प्रस्तुत की है।

वे रेणु के इस बात पर काफी बल देते दिखते हैं कि मैला आंचल में सिर्फ आजादी की त्रासदी भर नहीं है, स्थानीय सवाल भर नहीं हैं बल्कि राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय सवाल भी हैं। यथार्थ के बहु-स्तरीय परतों को इसमें उघाड़ा गया है। यायावर ने बताया है कि 'परती परिकथा' छपने के बाद भी वही सब हुआ जो 'मैला आंचल' छपने के बाद हुआ। जो लोग मैला आंचल के प्रशंसक थे उनमें से भी बहुत सारे लोगों ने इसके खिलाफ लिखा। खारिज करने की कोशिश की। जाहिर है दाखिल करने वाले भी सामने आए। यायावर की टिप्पणियों से इतना तो स्पष्ट है कि साहित्यिक हलकों में रेणु अपनी रचनाओं से काफी जगह घेर रहे थे।

'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' जैसे उपन्यासों के अलावा उन रचनाओं पर भी यायावर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं जिनकी चर्चा बहुत कम हुई है। वैसे तो वे स्वीकार करते हैं कि रेणु अपने को दोहराने से बचने के लिए अलग-अलग तरह की रचनाएं करते हैं। कथावस्तु बदलते हैं लेकिन 'पल्टूबाबू रोड', 'कलंकमुक्ति', 'कितने चौराहे' की तुलना में रेणु का मन 'जुलूस' में रमता है। भारत विभाजन संबंधित उपन्यासों में जुलूस इकलौता उपन्यास है जो बंगाली शरणार्थियों पर केंद्रित है। कलंकमुक्ति में स्त्री समस्याओं के क्रूरतम अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति हुई है। वे इन उपन्यासों के पात्रों का अध्ययन भी करते हैं।

यायावर रेणु की रचनाओं में राष्ट्रवाद की उपस्थिति की चर्चा करते हैं लेकिन इस बात को नहीं पढ़ पाते कि रेणु का 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' सत्ता और राजनीति के गलियारे में बन रहे राष्ट्रवाद का प्रतिलोम है। 'पैन नेशनलिज्म' से बेदखल वंचितों का राष्ट्रवाद। बावजूद रेणु के पाठकों के लिए यह बेहद जरूरी पुस्तक है। इसमें रेणु का जीवन, साहित्य, राजनीति, संघर्ष और रचना प्रकिया सभी विन्यस्त है। ✱

(लेखक हिंदी के प्राध्यापक हैं।)

साहित्य लेखन पूरे जीवन की साधना है

वरिष्ठ कथाकार गोविंद मिश्र से अवनीश मिश्र की बातचीतः

साहित्य लेखन पूरे जीवन की साधना है। अगर चार-पांच वर्षों के बाद ही आप यह उम्मीद करें या कहने लगें कि आपको मान्यता नहीं मिली, या आपको ये या वो पुरस्कार नहीं मिले, तो यह बात गलत है। जो लगातार ईमानदारी से अच्छा लिखते हैं, उन्हे देर-सबेर पुरस्कार मिलते ही हैं।

अपने लंबे लेखकीय सफर में आप हिंदी के लगभग तमाम महत्वपूर्ण सम्मानों से (ज्ञानपीठ पुरस्कार के अलावा) नवाजे जा चुके हैं। सरस्वती सम्मान किस तरह से विशिष्ट है?

यह कोई मेरी प्राप्ति है, ऐसा मैं नहीं समझता। मुझे लगता है कि होता यह है कि पुरस्कार मिलने लगते हैं, तो एक उम्र के बाद मिलते चले जाते हैं और हम देखते हैं कि हमारी शेल्फ पर कई पुरस्कार रखे हैं। एक लेखक जो लगातार लिखता रहे, यह स्तरीय लेखन हो, कूड़ा-कबाड़ा नहीं, उसको प्रकाशन जगत, साहित्यिक जगत, समाज से सम्मान, जिसका एक रूप पुरस्कार है, एक समय के बाद मिलेंगे ही, क्योंकि पुरस्कार देनेवाले भी तो ऐसे लेखकों को पुरस्कार देना चाहते हैं, जिनके लेखन में स्तरीयता हो। सवाल सिर्फ यह है कि हम लेखक लोग यह भूल जाते हैं कि साहित्य लेखन पूरे जीवन की साधना है। अगर चार-पांच वर्षों के बाद ही आप यह उम्मीद करें या कहने लगें कि आपको मान्यता नहीं मिली, या आपको ये या वो पुरस्कार नहीं मिले, तो यह बात गलत है। जो लगातार ईमानदारी से अच्छा लिखते हैं, उन्हे देर-सबेर पुरस्कार मिलते ही हैं। लिखना तो मैंने सन् 62-63 से शुरू कर दिया था. तीन चार साल तक कहानियां वापस आती रहीं। मेरी पहली कहानी इलाहाबाद से निकलने वाली पत्रिका 'माध्यम' में 1965 में छपी। धीरे-धीरे मेरी भाषा के लेखकों ने मुझे माना। एक चीज जो पुरस्कारों से भी बड़ी होती है, वह यह कि आपको लेखक बिरादरी से मान्यता मिले। आपकी भाषा के प्रतिष्ठित लेखक आपको मान्यता दें। सरस्वती सम्मान के साथ खास बात यह है कि दूसरी भाषाओं के प्रतिष्ठित लेखक भी इसकी ज्यूरी में होते हैं। सरस्वती सम्मान या साहित्य अकादमी (केंद्रीय) थोड़ा भिन्न इस मायने में भी हैं कि इनकी निर्णय प्रकिया कई स्तरों की होती है। सरस्वती सम्मान में तो अंतिम ज्यूरी में उच्चतम न्यायालय के अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधीश और अन्य भाषाओं के बड़े लेखक होते हैं। हिंदी की किसी पुस्तक को 23 साल पहले बच्चन जी की 'दशद्वार से सोपान तक' को मिला था। अब इतने वर्षों के बाद मेरी किताब को।

सरस्वती सम्मान आपके उपन्यास 'धूल पौधों पर' के लिए मिला है. इस उपन्यास को मानवीय रिश्तों की 'सामाजिक-बौद्धिक' गाथा कह सकते हैं। अपने इस उपन्यास के बारे में बताएं।

मुझे यह अपना सर्वप्रिय उपन्यास लगता है। इसलिए कि इतने छोटे आकार में इतनी ज्यादा चीजें मैं कह सका हूं और एक कलात्मकता भी उसमें ला सका हूं । यह इत्तिफाक से हो जाता है, अक्सर हम लेखकों के हाथ में नहीं होता। मेरी ज्यादातर रचनाएं काफी भावनात्मक होती हैं। इस उपन्यास में यह बहुत ज्यादा है, लेकिन भावनात्मकता कोरी भावुकता न हो, यह ध्यान मैंने रखा है। हैदराबाद सेंट्रल यूनिवर्सिटी के

प्रोफेसर सुवास कुमार ने इसकी एक बहुत अच्छी समीक्षा संभवत: साहित्य अकादमी की पत्रिका 'समकालीन साहित्य' में की थी। आपने जो एक शब्द इस्तेमाल किया- 'बौद्धिकता', उन्होंने भी इस शब्द का इस्तेमाल किया था. उन्होंने समीक्षा का शीर्षक रखा था, 'कथा रस में घुला-मिला बौद्धिक रस'। बौद्धिक रस की यह अवधारणा मुझे बहुत अच्छी लगी। यह उपन्यास के साथ न्याय करती है। उन्होंने मेरे कई उपन्यास पढ़े थे, उन्हें यह ज्यादा मैच्योर लगा। प्रेम जैसी चीज को उठाना, ऐसे पात्रों को उठाना, जो एक तरह से घृणा के पात्र भी हो सकते हैं, उन्हें ऊंचाई देना, मैं इसमें यह कर पाया हूं। अन्ना कैरेनिना की खूबसूरती क्या है? अन्ना शादीशुदा होते हुए भी, एक मां होते हुए भी एक आर्मी अफसर के साथ भाग जाती है। सामाजिक मानदंडों के हिसाब से इसे निकृष्ट कर्म कहा जायेगा। और आप लियो टॉल्स्टॉय का समय याद कीजिए। उस समय जो मोरैलिटी थी वह बहुत परंपरावादी और प्यूरिटैनिकल थी। शुरू के ड्राफ्ट में लियो टॉल्स्टॉय की बायोग्राफी में, अन्ना का चित्रण ऐसा था, जिससे लोग अन्ना से घृणा करते। लेकिन, टॉल्स्टॉय ने इस उपन्यास को सौ-सौ बार मांजा और उपन्यास के तौर पर जो अंतिम ड्राफ्ट हमारे हाथ में है, उसमें पाठक अन्ना से प्यार करता है। जो तथाकथित घृणित व्यवहार करनेवाले पात्र हैं, उन्हें इस स्तर पर ले जाना कि वे पाठक की सहानुभूति प्राप्त कर सकें, प्रेम पा सकें- यह हो सका है इस उपन्यास में।

तीसरी चीज, इस उपन्यास का अंत करुणा में होता है। करुणा बहुत मुश्किल रस है। कहा गया है, ' एको रस: करुण एव'। प्रेम प्रकाश जो इस उपन्यास का मुख्य पात्र है, उसका व्यवहार शुरू में बहुत घृणित कहा जा सकता है। एक पढ़ा-लिखा बौद्धिक, अपने से बहुत ही कम उम्र की लड़की से ऐन्द्रिक व्यवहार करता है, पर वह धीरे-धीरे ऊपर उठता चला जाता है। सब्लिमेट करता

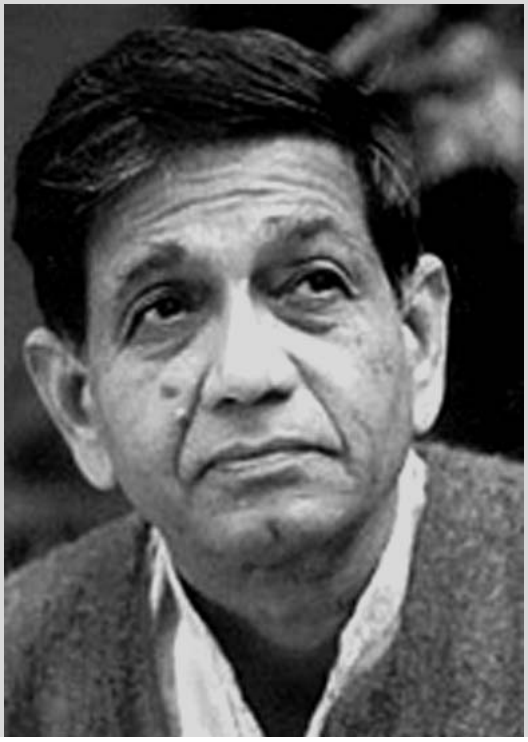

है खुद को। इस क्रम में उपन्यास के अंत में करुणा की सृष्टि होती है। लड़की प्रेम प्रकाश से पूछती है कि आपसे मेरा क्या संबंध है? वह कहता है कि 'मैं तुम्हारा मायका हूं। जो-जो तुमसे खोता चला गया जीवन में, वह मैं हूं। मैं तुम्हारा पिता हूं, माता हूं, भाई हूं, जो मंडल आंदोलन में जल गया, वह सब कुछ हूं। वह मायका हूं, जहां स्त्री बिखर कर आती है और फिर सशक्त होकर जीवन के संघर्षों का सामना करने के लिए लौटती है।'

चौथी चीज, जो मेरे दिमाग में आ रही है, जो इसमें हो सकी है वह यह कि लड़की का संघर्ष बाह्य है। उसका संघर्ष सामाजिक स्तर पर है। प्रेम प्रकाश का संघर्ष आंतरिक है। दोनों समानांतर चलते हैं। दोनों पात्रों का विकास समानांतर होता है, जिसे फॉस्टर कहता है, 'राउंड कैरेक्टर्स'। राउंड कैरेक्टर्स वे होते हैं, जो एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक विकसित होते हैं और 'फ्लैट कैरेक्टर्स' वे होते हैं, जो पूरे उपन्यास में एक ही तरह के रह जाते हैं। यहां दोनों पात्रों का विकास हुआ है। एक का आंतरिक एक का बाह्य। वे जीवन में बदल जाते हैं। एक लड़की जिसमें आत्मविश्वास नहीं था, जो मरना चाहती थी, उसके अंदर निर्णय की क्षमता आ जाती है। उपन्यास के अंत में वह एक सख्त निर्णय लेती है। अपने जीवन के बारे में निर्णय लेने की क्षमता आ जाना स्त्री का सबसे बड़ा सशक्तीकरण है। तो इत्तिफाक से (इसे मैं इत्तिफाक ही मानता हूं) इस उपन्यास में एक साथ कई चीजें हो गयीं। इससे इस उपन्यास में कई परतें आयी हैं। फ्लैप मैटर में इसकी तरफ इशारा भी है कि इसे कई तरह से पढ़ा जा सकता है। यानी इसकी कई तरह से व्याख्या की जा सकती है।

इस उपन्यास का बीज क्या था? या कहें, ऐसी कोई घटना, अनुभव, यथार्थ या विचार का सिरा, जो इस उपन्यास का पहला कदम बना?

मेरी ज्यादातर रचनाओं की शुरुआत जीवन या यथार्थ से ही होती है। कल्पना बाद में आती है। रचनात्मक गठन के स्तर पर। मेरी ज्यादातर रचनाओं का आधार मेरी खुद की भोगी गयी पीड़ा है, या जो पीड़ा मैंने किसी पात्र या व्यक्ति को देख कर महसूस की, जो

खुद की पीड़ा जैसी बन गयी। यह उपन्यास भी जीवन से उठाया गया है।

मेरी नजर में उपन्यास मूलतः कथा से ज्यादा विचार है। चुनौती है कथा को विचार और विचार को कथा बनाने की। कथा और विचार के द्वंद्व का सामना आप किस प्रकार से करते हैं?

मेरे यहां न कथा ज्यादा महत्वपूर्ण है, न विचार। मेरी सभी रचनाओं में, खासकर उपन्यासों में भावना अधिक महत्वपूर्ण है। कथा के साथ-साथ उन पात्रों का भावनात्मक विकास, उनका विश्लेषण होता है। विचार तक पहुंचने का सबसे अच्छा रास्ता भावना का है, क्योंकि भावना गैर-ईमानदार नहीं हो सकती, इसलिए गलत भी नहीं हो सकती। कथा के स्तर पर देखिए, तो मेरे इस उपन्यास में कोई ज्यादा कथा नहीं है। इसे वस्तुस्थिति भी कह सकते हैं कि जहां से शुरू करते हैं, वहीं रह जाते हैं। लेकिन भावनात्मक विकास है। अंत तक इस उपन्यास के दोनों मुख्य पात्र एकदम बदल गये हैं। उनका एक किस्म का व्यक्तित्वांतरण हो गया है। चरम भावनात्मकता के बिंदु पर प्रेम प्रकाश कहते हैं, 'मैं तुम्हारा मायका हूं'। यह विचार की मायका, घर ही नहीं, एक व्यक्ति भी हो सकता है। यह विचार अंतर्मन से उपजता है, भावना के रास्ते आता है। बाहर से नहीं। तो मेरा रास्ता यह है। मैं फीलिंग, भावना, इसके रास्ते ज्यादा चलता हूं।

आपको लगता है कि बगैर विचारधारा के श्रेष्ठ रचना की जा सकती है?

देखिए मेरे ख्याल से रचना में विचारधारा का प्रभाव नकारात्मक ही होता है। विचारधारा कोई भी हो, चाहे वह राजनीतिक हो, या धार्मिक हो, या सामाजिक मान्यता संबंधी हो, वह एक पूर्वग्रह बनाती है। लेखक को लगातार विकसित होते रहना चाहिए। और मुझे अच्छा लगेगा अगर कोई लेखक खुद के ही किसी विचार को अगली रचना में नकार दे और नये विचार के साथ आये। लेखक से अपेक्षा यह होती है कि वह सतत नये-नये सवाल पैदा करे। अपने लिए, अपने पाठकों के लिए भी। उसके समाधान न दे। विचारधारा के पास तय समाधान होता है। धार्मिक विचारधारा कहती है कि एक धर्म की तरफ आओ। राजनीतिक विचारधारा कहती है कि हम ही सही हैं, बाकी सब गलत। ये जो दुराग्रह है, यह मुझे कभी नहीं जमा, इसलिए मैं कभी किसी विचारधारा में कैद नहीं हो पाया।

आपने अंगरेजी के प्राध्यापक के तौर पर काम किया। फिर आप नौकरशाही में चले आये। यह फैसला कैसे और कब किया कि हिंदी में ही लिखना है, क्या इसके पीछे कोई खास प्रेरणा थी?

कोई फैसला जैसा नहीं था। हिंदी बहुत स्वाभाविक ढंग से आ गयी। बांदा में मेरा जन्म हुआ। बुंदेलखंडी परिवेश में पला-बढ़ा। इलाहाबाद में चार साल रहा। हिंदी में नहीं लिखता तो किसमें लिखता! मैंने हिंदी इंटरमीडिएट तक पढ़ी। मेरा डिस्टिंक्शन आया था हिंदी में। सौ में छिहत्तर नंबर आये थे। हिंदी के टीचर त्रिवेदी जी काफी गद-गद हुए। उसके बाद हिंदी उस तरह नहीं पढ़ी। इलाहाबाद का वातावरण कॉम्पटीशन में बैठने वाला था। गरीब घर का था और मुझे जल्दी से जल्दी नौकरी चाहिए थी। उस जमाने में अंगरेजी में एम.ए. करनेवालों को नौकरी झट से मिल जाती थी। तो मैंने एम.ए के लिए अंगरेजी साहित्य को चुना। कुछ चीजें कुदरत करती जाती है आपके साथ। अंगरेजी का फायदा यह हुआ कि नौकरी मिल गयी। वह तो खैर अलग बात है। लेकिन जो स्थायी लाभ हुआ वह यह कि जो श्रेष्ठ विदेशी साहित्य है उसे अंगरेजी में ही पढ़ने का खूब मौका मिला। अंगरेजी ने मुझे अंतरराष्ट्रीय लेखकीय बिरादरी से जोड़ा। मार्खेज तक को पूरा अंगरेजी में पढ़ सका। रूसी साहित्य को पढ़ सका। दोस्तोवस्की, टॉल्सटॉय वगैरह को भी पढ़ सका। जिस समय लिखना शुरू किया, उस समय घनघोर अंगरेजी के बीच था। एम.ए कर रहा था या एम.ए के बाद प्राध्यापन कर रहा था। अंगरेजीमय माहौल था, लेकिन लिखना हिंदी में होने लगा। और ऐसा भी नहीं है कि इसके पीछे कोई प्रेरणा रही हो। बच्चन जी या किसी से मिली हो। अपने आप हुआ यह। शायद जिस परिवेश से मैं आया था बुंदेलखंड, चरखारी, बांदा, इनका असर रहा होगा। वहां की जो सशक्त बोली थी, वह कलम में आकर बैठ गयी। मैं गरीब घर का था, तो परिवार का संरक्षण ज्यादा नहीं रहा। 'लाल पीली जमीन' में देखो, परिवेश की भाषा है। भाषा ही भाषा है। भीतर भाषा की संपदा इतनी अधिक थी कि मैं अपने आप हिंदी में खिंचा चला आया।

हां, आपका वह अफसरी के साथ बोल्ड लेखन कैसे चला ... यह सवाल रह गया।

असल में यह हुआ कि मैंने कभी अपनी नौकरी को अपने पद के महत्व के तौर पर नहीं देखा। नौकरी को बस नौकरी के तौर पर देखा, जिसका महत्व यह था कि तनख्वाह मिल जाती है, जिससे मैं अपने दायित्व पूरे कर सकता हूं, वो मैं लिखने के माध्यम से करने चलूंगा तो नहीं कर पाऊंगा और एक बेकार के संघर्ष में फंस जाऊंगा। पदों से कभी मेरा दिमाग खराब नहीं हुआ। मुझे अपने साहित्यकार का कद अपने हर पद से बड़ा लगता रहा।

आपने विपुल साहित्य की रचना की है। वर्तमान समय में शब्द की क्या भूमिका आप जीवन और समाज में देखते हैं? क्या आपको लगता है कि साहित्य जीवन-समाज में बदलाव लाने में कोई भूमिका निभा सकता है?

देखिए, यह न कभी आया है, न कभी आ सकता है। रूसो की किताब का हवाला खूब दिया जाता है कि फ्रेंच रिवोल्यूशन आ गयी, लेकिन उसके बाद क्या हुआ- नेपोलियन!

रूस में लेनिन के बाद- स्टालिन! जारशाही रूस से तब गयी जब उसका समय आ गया। इसी तरह कम्युनिस्ट तानाशाही जब उसका समय आ गया, तब गयी, सोल्जेनित्सिन की किताबों से नहीं गयी। साहित्य के पाठक हर युग में, हर भाषा में कम रहे हैं। इसे स्वीकार करना चाहिए। भवभूति ने भी कहा था, 'मुझे आज को कोई नहीं पढ़ता, लेकिन भविष्य में कोई ऐसा आयेगा, जो मुझे पढ़ेगा- 'उत्पस्यते कोपि समानधर्मा'। साहित्य को ढूंढ़कर पढ़नेवाले वही होते हैं, जो जीवन के संबंध में प्रश्न उठाते हैं। साहित्य पाठक की कल्पनाशीलता, प्रश्नाकुलता को बढ़ाता है। उसके भीतर सवाल पैदा करता है। साहित्य का यही सबसे बड़ा काम है। जो कृति समस्या और उसका निराकरण प्रस्तुत करती है, जवाब देती है, वह कमजोर साहित्य है। जवाब अपने लिए पाठक खुद ढूंढ़ेगा। दूसरी बात, साहित्य कभी पुराना नहीं होता। दोस्तोवस्की, टॉल्सटॉय को हम आज भी पढ़ रहे हैं कि नहीं? सौ साल से भी ज्यादा हो गये। हर युग में अच्छाई तादाद में कम होती है, लेकिन वही किसी समाज को खड़ा रखती है। उस अच्छाई को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ले जाने का काम साहित्य करता है। वह व्यक्ति को जीवन को झेलने की शक्ति देता है; यह भी एक बड़ा काम है।

कहीं पढ़ रहा था कि आप अपनी हर रचना पर बहुत काम करते हैं। कई ड्राफ्ट बनाते हैं। क्या यह परफेक्शन की चाह है? इसकी क्या वजह है?

हां, मैं अपने उपन्यासों के ड्राफ्ट को बार-बार लिखता, संशोधित करता हूं। उसे बार-बार पढ़ता हूं। उसमें कांट-छांट करता हूं। इसके पीछे इच्छा यही होती है कि कुछ भी अतिरिक्त न जाये। एक शब्द भी फालतू नहीं। तब तक ड्राफ्ट पर लगा रहता हूं, जब तक अंदर से यह ध्वनि नहीं उठती कि अब मेरे बस का और कुछ नहीं रहा, कि मैं इससे बेहतर नहीं लिख सकता था। वैसे कई बार इससे दिक्कत भी आती है। इस बात की आशंका होती है कि उपन्यास को ज्यादा कसने के चक्कर में कहीं उसकी जीवंतता ही नष्ट न हो जाये।

जब आप लिख रहे होते हैं, तब कौन सा पाठक आपके सामने होता है?

कह सकता हूं, कोई नहीं... पर जब मैं लिख रहा होता हूं, तो यह कोशिश करता हूं कि यह दुरूह या दुर्बोध न हो, साथ ही उच्च स्तर की कलात्मकता आये। तो, मैं मानूं या नहीं अवचेतन में एक पाठक तो रहता ही होगा। मैं अपने लिए एक बौद्धिक पाठक की कल्पना करता हूं, जो सहृदय, संवेदनशील भी हो, जो लिखे गये संदर्भों को समझ सके। जनता के लिए लोकप्रिय किस्म के लेखन के पक्ष में मैं कभी नहीं रहा। सिनेमा के लिए कहते ही हैं- 'जनता की यही मांग है'। जैसी मांग है, जैसी जनता चाहती है, वैसा लिखना साहित्य नहीं है। मुझे लगता है कि पाठक को भी अच्छा साहित्य पढ़ने के लिए अपना परिष्कार करना चाहिए। मैं सबसे पहले अपने विषय के प्रति, उस संदर्भ में अपने सोच के प्रति ईमानदार होता हूं। सवाल उठता है कि मैं जो लिख रहा हूं, वह लिखा जाना क्यों जरूरी है? क्या यह वही है, जो मैं महसूस कर रहा हूं। यह सही है कि पाठक कम हैं, लेकिन साहित्य की आयु लंबी होती है। लेखक की आयु से कहीं ज्यादा। मेरे उन पाठकों को भी तो गिनिए, जो मेरे बाद भी मुझे पढेंगे।

आप पर किन लेखकों का सबसे ज्यादा प्रभाव रहा?

इस तरह तो किसी का प्रभाव नहीं रहा। जो किताबें अच्छी लगती हैं, वे स्मृति में ज्यादा देर नहीं रहतीं...याद्दाश्त बहुत अच्छी नहीं है। कई लेखकों का बहुत स्नेह मिला, उनसे बहुत कुछ सीखने को भी मिला। दिल्ली में उस समय बहुत साहित्यकार थे, उनका व्यक्तित्व भी साहित्यकारों वाला था। जैनेंद्र, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, मनोहर श्याम जोशी आदि। अमृतलाल नागर की पत्नी बहुत स्नेह रखती थीं। कभी भी बिना खाना खिलाए नहीं जाने देतीं। शैलेश मटियानी बहुत फक्कड़ तबीयत के थे। बड़े लेखक थे। उनकी कहानियों पर लंबा लेख लिखने के लिए सात दिन सिर्फ उन्हें ही पढ़ता रहा...लेकिन असर लेखन पर किसी का दिखाई नहीं देता।

अपनी पसंदीदा किताबों और लेखकों के बारे में बताइए। किनका लिखा सबसे ज्यादा पसंद है?

जैसा मैंने कहा, शैलेश मटियानी का मैं बड़ा फैन रहा हूं। उनमें गजब की प्रतिभा थी। देखिए, कुमाऊं का एक आदमी 'गोफुली गफूरन' उपन्यास में किस तरह से मुसलिम परिवार का प्रामाणिक वर्णन करता है। जैनेंद्र और अज्ञेय में जैनेंद्र का व्यक्तित्व और लेखन ज्यादा पसंद है। जैनेंद्र और अज्ञेय का फर्क गांधी और नेहरू के बीच के फर्क जैसा है। कहते थे, गांधीजी से मिलिए तो अगर आप उन्नीस हैं, तो खुद को कम से कम बीस या इक्कीस महसूस करने लगेंगे। नेहरू से मिल कर आइये तो बीस से कम से कम उन्नीस हो जाते थे। अज्ञेय का व्यक्तित्व थोड़ा आतंकित करता था। जैनेंद्र का 'त्यागपत्र', 'दशार्क' पसंद है। 'महाभारत' बहुत पसंद है। इसे जितनी बार पढ़िए, नया अर्थ निकलता है। दोस्तोवस्की का प्रशंसक हूं। उनका 'काइम एंड पनिशमेंट' और 'ब्रदर्स कौरमोजोव' कई बार पढ़ा है। टॉल्सटॉय का 'वार एंड पीस' और 'अन्ना कैरेनिना' बड़ी रचनाएं है। तुलसीदास भी बहुत पसंद हैं।

नयी पीढ़ी जो लिख रही है, क्या उनकी रचनाशीलता आपमें उम्मीद जगाती है?

नयी पीढ़ी में जल्दी प्रसिद्ध हो जाने की इच्छा रहती है। धैर्य की उनमें कमी रहती है। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि इनके पास नये-नये विषय हैं। ब्यौरे भी काफी हैं, भले ही संवेदना की कमी है। ✱

वाद, विवाद और संवाद की परंपरा

'तीसरा सप्तक' में शामिल करने के लिए वात्स्यायन जी ने जोशी जी से कविताएं मांगी थी पर जोशी जी आजकल करते हुए उहापोह में बिता दिए कि सप्तक छप गया। यदि जोशी जी शामिल हो गए होते तो 'तीसरा सप्तक' के यशस्वी कवियों में से कौन छूटता, एक बड़ा सवाल है।

समास

हिंदी साहित्य में जब भी हम किसानों की समस्या, शोषण की समस्या, दलितों की समस्या और स्त्रियों की समस्या और पूंजीवाद का प्रभाव आदि को खोजने चलते हैं तो हमें उसके प्रस्थान- बिंदु मुंशी प्रेमचंद दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचंद के विपुल लेखन में चाहे वह 'गोदान', 'रंगभूमि', 'गबन', जैसे उपन्यास हों या 'कफन', 'ठाकुर का कुंआ', 'सदगति' जैसी कहानियां हों या 'महाजनी सभ्यता' जैसा निबंध हो हमें इस तरह के विचार दृढ़ता से दिखलाई पड़ते हैं। वैविध्य को ध्यान में रखकर 'समास' का संपादकीय है 'हिंदी साहित्य में मुंशी प्रेमचंद का स्थान बहुत ऊंचा है। यह बिना संकोच के कहा जा सकता है कि वे हमारे प्रमुख पुरखों में एक हैं, इतना ही नहीं हिंदी भाषा में आत्मविश्वास का आधार भी प्रेमचंद की रचनाएं ही है।' लगभग नौ स्तंभों में यह अनियतकालीन पत्रिका अपने कलेवर में कई नई तरह की चीजें समेटे हुए है। भारतीय दृष्टियां और पश्चिम से उऋण होने के मार्ग में उदयन ने दार्शनिक नवज्योति सिंह के साथ एक साक्षात्कार के माध्यम से यह खोजने की कोशिश की है कि भारतीय परम्परा की विधायक शक्ति का लोप होना कब शुरू हुआ और आधुनिकता के बीच भारतीय पारम्परिक दृष्टि की धारा किस रूप में दिखाई पड़ती है। अनेक रोचक प्रश्नों के माध्यम से सिंह के साथ की बातचीत कई नए प्रश्न छेड़ती है। इसी अंक में 'जैसे अभी-अभी' शीर्षक से संजीव क्षितिज की आठ कविताएं, ओडिया की प्रवासिनी महायुद्ध की कविताएं और बांग्ला की इशिता भादुड़ी की कविताओं का हिंदी रूपांतर दिया गया है। इसी अंक में ध्रुव शुक्ल के उपन्यास 'एम.जी.रोड' का कुछ अंश भी शामिल किया गया है, जिसमें वह कहते हैं कि 'बीसवीं सदी का अंत आते-आते महात्मा गांधी मार्ग एम.जी.रोड कहलाने लगा। गांव की उजली पगडंडियों को पाटती सड़कें उर्वर धरती की कोख को काला करने लगीं। फिर लोग एम.जी. रोड को मल्टीनेशनल ग्लोबल रोड कहने लगे।' जब पूरा विश्व गांधी को एक विकल्प के रूप में देख रहा है उस समय यह एब्रीवियेशन गांधी मूल्यों के साथ खिलवाड़ नहीं तो और क्या है? 'रूसी संस्कृति का उद्‌भव और विकास' कमलेश का एक विस्तृत आलेख है जिसमें हमें रूसी संस्कृति और उसके महान साहित्य-परम्परा की बानगी और उसके टूटने-बिखरने का विस्तृत लेखा-जोखा मिलता है। महान शायर गालिब के इतालवी अनुवाद पर स्टीवन ग्रीको की टिप्पणी भी है जिसका अनुवाद

जवाहर गोयल ने किया है। उत्तराखंड की त्रासदी को केंद्र में रखकर 'विकास और प्रगति के नेपथ्य में उत्तराखंड की त्रासदी' नामक शीर्षक से पवन गुप्ता का आलेख है। वह कहते हैं 'आधुनिक विज्ञान ने जन मानस में एक अहंकार भर दिया है कि वह कुछ भी कर सकता है और सब कुछ जान सकता है और वह प्रकृति को जितना समझता है वह ही समझने भर को है, उसके आगे कुछ नहीं।... इसी प्रकार के विचार को ध्यान में रखकर अनुपम मिश्र का निबंध 'अकेले नहीं आते बाढ़ और अकाल' भी देखा जा सकता है। 'मणिकौल का स्मरण' मधु अप्सरा का एक संस्मरणात्मक लेख है। हिंदी साहित्य में मनोहर श्याम जोशी की ख्याति एक पटकथा लेखक, उपन्यासकार, पत्रकार आदि के रूप में रही। कुछ लोग उन्हें व्यंग्यकार के रूप में भी जानते हैं। ऐसे लोगों की संख्या अत्यंत सीमित है जो उनके कवि रूप से परिचित हों। 'मेज पर कुछ मोम' शीर्षक से वागीश शुक्ल ने मनोहर श्याम जोशी की कविताओं पर अपनी टिप्पणी दी है। वे इस बात का हवाला देते हैं कि 'तीसरा सप्तक' में शामिल करने के लिए वात्स्यायन जी ने जोशी जी से कविताएं मांगी थी पर जोशी जी आजकल करते हुए उहापोह में बिता दिए कि सप्तक छप गया। यदि जोशी जी शामिल हो गए होते तो 'तीसरा सप्तक' के यशस्वी कवियों में से कौन छूटता, एक बड़ा सवाल है। समास का यह अंक कुछ विलंब से जरूर प्रकाशित हुआ लेकिन कुल मिलाकर व्यवस्थित अंक है और विचारोत्तेजक भी।

समीक्षा

यह अंक कई महत्वपूर्ण रचनाओं से रूबरू करता है। सत्यकाम ने अपने संपादकीय में मार्केज और खुशवंत सिंह के बहाने कथा परिदृश्य को दिखाने का प्रयास किया है।

इन्होंने मार्केज की महत्वपूर्ण कृति जिसका अनुवाद हिंदी में 'एकांत के सौ वर्ष' शीर्षक से किया गया है, को सामूहिक लोक-स्मृति का भव्य आख्यान कहा है। खुशवंत सिंह के लेखन पर बात करते हुए वे कहते हैं कि इनमें व्यंग्य, हास्य और कटाक्ष का अन्यतम संबंध रहा है। इस पत्रिका की एक और खासियत रेखांकित करने योग्य है कि इसमें साहित्य की लगभग सभी विधाओं पर सामग्री दी गई है। सिर्फ हिंदी ही नहीं अन्य भाषाओं के भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण रचना को भी मूल्यांकन में शामिल किया गया है, जिसमें रवींद्रनाथ ठाकुर का 'चार नाटक' शीर्षक भी है। इसमें संकलित विसर्जन, लाल कनेर, घर और बाहर, शेषरक्षा, है जिसका अनुवाद प्रतिभा अग्रवाल ने किया है। इसी क्रम में कोवलम नारायण पणिक्कर के नाटक 'रंग सप्तक' पर भी टिप्पणी की गई है। 'निकट मन में एक नजरिया' शीर्षक से विजय शर्मा द्वारा अजीत कुमार के संस्मरण 'दूर वन में निकट मन में' की समीक्षा है। अजीत कुमार की प्रसिद्धि एक कवि के रूप में है लेकिन उनके संस्मरण भी बेहतरीन है। लौटना नहीं है (कैलास वनवासी), मरंग घोड़ा नीलकंठ हुआ (महुआ माजी) उपन्यास की समीक्षाएं हैं। साथ ही मनीषा कुलश्रेष्ठ के ताजातरीन उपन्यास 'पंचकन्या' का अंश प्रकाशित किया गया है तथा उस पर 'स्त्रीमन और जीवन के अनहुए पहलुओं की गाथा' शीर्षक से विवेक मिश्र की समीक्षा भी है। समग्रता में 'समीक्षा' का यह अंक भारतीय साहित्य के प्रति उत्सुकता जगाने वाला है।

साखी

अनियतकालीन साखी में इस बार महीयसी महादेवी वर्मा को केंद्र में रखकर अनेक दृष्टियों से विमर्श प्रस्तुत किया गया है। छायावाद, रहस्य, विलाप जैसे कुछ-कुछ मुख्यधारा से परे के तर्कों से जोड़कर महादेवी का कृतित्व उपेक्षित सा रहा है। परंतु महादेवी सांस्कृतिक चिंतन और भाषा के स्वभाव व परिष्कार से भी गहराई से जुड़ी रही हैं। महादेवी के इर्द-गिर्द बुने गए और आरोपित तिलस्म को तोड़ने का यह एक सराहनीय प्रयास है। नामवर जी के आरंभिक और समापन वक्तव्य में महादेवी जी के काव्य के पुनर्मूल्यांकन का आह्वान किया गया है। वे महादेवी में लोकान्मुखी दृष्टि पाते हैं जो उन्हें प्रेमचंद के निकट लाती है। वे महादेवी को पंत से अच्छा कवि पर निराला और प्रसाद के बाद ठहराते हैं। बेतरतीब होते हुए भी नामवरजी ने हिंदी विमर्श के लिए बहुत सारे इशारे किए हैं। हिंदी के प्रमुख कवि केदारनाथ सिंह मानते हैं 'हिंदी आलोचना ने महादेवी वर्मा के काव्य के साथ 'सबसे अधिक अन्याय' किया है।' उन्होंने महादेवी जी के गीतों के ढांचे को लेकर विचार किया है। उनके हिसाब से महादेवी के गीतों में एक स्टैटिक ढांचा है। उन्होंने

याद दिलाया है 'अंधेरे में' हमारे समय की सबसे बड़ी कविता है और उसने अंधकार की छटा को पराधीन भारत से जोड़ा है। वे महादेवी को शब्दों का, छायावादी युग का सबसे बड़ा परिष्कर्ता स्थापित करते हैं। कवि अरुण कमल ने महादेवी की कविता के वैचारिक धरातल को उभारा है। इसके लिए उन्होंने महादेवी के काव्य और गद्य रचनाओं को आधार बनाया है। करुणा, सर्ववाद, सामंजस्य पर विचार करते हुए अरुण जी ने महादेवी के विचार को नवीन, रूढ़िमुक्ति और विद्रोही रूप में भी देखा है। वे उनके सृजन, चिंतन और आलोचनात्मक विवेक के कायल हैं। परमानंद श्रीवास्तव की टिप्पणी सूचनात्मक है। शंभूनाथजी ने महादेवी के व्यक्तित्व के माध्यम से महादेवी की रचना प्रक्रिया को पकड़ने और समझने की कोशिश की है। महादेवी के एक्टिविज्म की ओर भी उन्होंने ध्यान आकर्षित किया है। राजेन्द्र कुमार, रेवती रमण ने महादेवी की चेतना की परतों को पहचानने की कोशिश की है। गोपेश्वर सिंह को भी लगता है कि महादेवी जी के रचनाकर्म को ठीक से समझना अभी बाकी है। रघुवंशमणि और कृष्ण कुमार सिंह महादेवी के काव्य का एक नया पाठ करते हैं। स्त्री स्वाधीनता को लेकर कई निबंध हैं। महादेवी के निर्गुण साधना को लेकर मधुप कुमार कई महत्वपूर्ण प्रस्तावनाएं करते नजर आते हैं। आलोचक मैनेजर पांडेय 'श्रृंखला की कड़ियां ' के बहाने महादेवी के स्त्री चिंतन को आलोचकीय संवेदना के साथ प्रस्तुत करते हैं। महादेवी के माध्यम से भारतीय नारी पर विचार करते हुए अवधेश प्रधान तथा चंद्रकला पांडिया, रोहिणी अग्रवाल, स्वाती सिंह, रंजना जायसवाल ने अपने लेखों में स्त्री विमर्श उभारा है। रंजना अरगड़े ने अपनी टिप्पणी में महादेवी की चिंतन भूमि को सामने लाने का प्रयास किया है। अनिल राय ने महादेवी वर्मा की लिखी सात भूमिकाओं को लेकर दूधनाथ सिंह द्वारा संपादित पुस्तक की समीक्षा की है। महादेवी को समझने का सूत्र देते हुए अनिल राय की टिप्पणी 'महादेवी जी ने साहित्य को जीवन से जोड़ा है और यह जीवन व्यापक है जिसमें प्रकृति और मनुष्य दोनों के व्यक्तित्व और अव्यक्त रूप सामने आते हैं। कुबेर दत्त ने महादेवी के साक्षात्कार में महादेवी के जीवन को उभारा है। अंत में महादेवी वर्मा का एक लेख 'मेरे स्वप्नों का विश्वविद्यालय' है जो पूरे समाज को सोचने के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न उठाता है। साखी का यह अंक महादेवी के साहित्य को समझने का आवाहन करता है।

अभिनव कदम

विश्व के प्रसिद्ध इतिहासकारों में एरिक हॉब्सबाम का नाम प्रथम पंक्ति में शामिल किया जाता है। उनकी मृत्यु के बाद जय प्रकाश धूमकेतु ने 'स्वप्न अभी जिंदा है' शीर्षक से एक महत्वपूर्ण अंक प्रकाशित किया है। इसमें जहां एक तरह हिंदी के लेखकों ने हॉब्सबाम के लेखन कर्म को रेखांकित किया वहीं कई बड़े इतिहासकारों जैसे- रोमिला थापर, लाल बहादुर वर्मा, रामशरण जोशी, दीपक मलिक आदि के आलेखों को मूल या अनुदित रूप में शामिल किया गया है। रोमिला थापर ने एरिक हॉब्सबाम को याद करते हुए यह स्वीकारोक्ति दी है कि एरिक हॉब्सबाम उन इतिहासकारों में से थे जिनका अधिकांश कार्य यूरोपीय इतिहास की विगत तीन सदियों पर केंद्रित रहा। एरिक हॉब्सवाम का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा है कि '20वीं सदी के अंत में मार्क्सवाद का संदर्भ पहले के समय से काफी अलग है, फासीवाद विरोधी समय के दूसरे विशिष्ट चरित्रों को रेखांकित करते हुए वह कहते हैं कि 1960 से ही मार्क्सवादियों को मार्क्सवाद के बड़े सुपर मार्केट जैसी चीजों से दो चार होना पड़ा। 'एरिक हॉब्सबाम को याद करते हुए' शीर्षक लेख में नलिनी तनेजा कहती हैं कि उनकी प्रतिष्ठा और मान्यता भिन्न-भिन्न वैचारिक आग्रहों वाले बौद्धिक समुदायों के बीच भी समान है। 'एरिक हॉब्सबाम के साथ भारतीय इतिहासकारों की परिचर्चा' तथा एरिक हॉब्सबाम के साथ डॉ. पैट ठाणे और लीज लनबेक' का साक्षात्कार अत्यंत महत्वपूर्ण सामग्री है।

इसमें हॉब्सबाम कहते हैं कि 'इतिहासकारों को यह स्वीकार करना चाहिए कि जिसके बारे में हम कुछ कह रहे हैं वह वास्तविक है, वस्तुनिष्ठ है, नाम से जो भी अतीत में घटित हुआ ठीक उसी समय ऐसा करना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि अतीत तक हम केवल अतीत से प्रश्न करके ही पहुंच सकते हैं।' रामशरण जोशी ने अपने आलेख में स्वीकार किया है कि 'द्वंद्वों की अंतहीन यात्रा समाज और राष्ट्र में चलती रहती है। मूल प्रश्न है द्वंद्वों की अंतरसम्बंधता, अंतर्क्रियाएं, तदजनित अंतर्विरोधी यात्रा की दशा-दिशा की सही-सही पहचान कैसे की जाए? लाल बहादुर वर्मा का आलेख 'एरिक हॉब्सबाम: एक जनपक्षधर, इतिहासकार' भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने यह माना है कि वह वृहत्तर सरोकारों वाले सर्जक थे। समग्रता में देखा जाए तो हॉब्सबाम केंद्रित यह अंक संग्रहणीय है।

वागर्थ

यह अंक 'समकालीन कथा साहित्य और प्रेमचंद का भारत: आज की कथावस्तु' पर केंद्रित विशेषांक है। इसमें आवरण पृष्ठ पर कला और यथार्थ को प्रेमचंद के बहाने दिखाने का प्रयास है। प्रेमचंद कहते हैं 'कला दिखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो'। दरअसल कला और यथार्थ में यह द्वंद्व सदियों से बरकरार है। जब माध्यम परिवर्तन होता है तो यथार्थ बौना लगता है लेकिन यथार्थ को देखने की दृष्टि होनी चाहिए। वागर्थ के इस अंक के माध्यम से कई समकालीन रचनाकारों के विमर्श सामने आए हैं। इस अंक को दो खंड में संयोजित किया गया है। पहला विमर्श खंड है और दूसरा कथा खंड है। विमर्श में उषा प्रियंवदा, शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, गोविंद मिश्र, मैनेजर पाण्डेय, पंकज विष्ट, महेश कटारे, स्वयं प्रकाश, शंभुनाथ और अब्दुल विस्मिल्लाह जैसे महत्वपूर्ण कथाकार आलोचकों की टिप्पणियां हैं। इसमें प्रारंभ में ही कई सवाल दर्ज कर दिए गए हैं जिसके उत्तर की अपेक्षा उक्त विमर्शकारों से की गई। कई प्रश्न भी बड़े बेबाक ढंग से रखे गए हैं। मसलन- समकालीन कथा साहित्य का सामर्थ्य और उसकी सीमाएं। उषा प्रियवंदा का मानना है कि 'ऐसे समय में लेखन स्व को ही चित्रित करता है' उन्होंने यह माना है कि आधुनिक हिंदी साहित्य आज की परिस्थितियों को और मन:स्थितियों को अभिव्यक्त करने में सफल हुआ है। शेखर जोशी ने स्वीकार किया है कि 'भूमंडलीकरण के मूल में प्रेमचंद की महाजनी सभ्यता ही काम कर रही है। उन्होंने ममता कालिया के उपन्यास 'दौड़' को युवा मानसिकता का एक मार्मिक दस्तावेज स्वीकार किया है। कथाकार एवं आलोचक दूधनाथ सिंह का सोचना है कि किसी लेखक का जीवन सुखमय नहीं है। उन्होंने यह भी माना कि समकालीन कथा-साहित्य 'हिंदी' की कथावस्तु हिंदी क्षेत्र का मध्य वर्ग है। उसी को कथाकारों ने अनेक रंगों में चित्रित किया है।' अगर देखा जाए तो विमर्श के माध्यम से कथाकारों ने और आलोचकों ने बेबाकी से अपनी कथा साहित्य की परख को सामने रखा है। कथा खंड में कुछ पुरानी कहानियों को पढ़ने का सुख मिलता है।

हंस

हंस पिछले अंकों की तरह हंस का यह अंक भी स्वागतयोग्य है। संजय सहाय का संपादकीय, 'अपुष्ट तुष्टीकरण और बकवास' में उन्होंने कई मौजू सवाल उठाए हैं जो बार-बार भारतीय जनमानस को विचलित करते रहते हैं और हर बार व्यक्ति ही छला और ठगा जाता है।

वह कहते हैं कि 'अल्पसंख्यकों का तुष्टीकरण एक ऐसा संवेदनशील मिथक है जिस पर अधिकांश बहुसंख्यक असहज रूप से भावुक हो उठते हैं। सुधा अरोड़ा की कहानी- 'उधड़ा हुआ स्वैटर' मन को छू गयी। मार्केज को जब नोबल पुरस्कार दिया गया था उस समय उनके द्वारा दिए गए भाषण' शापित नस्लों के एकांत और यूरोपिया तथा अएन्द्रे को क्यों मारना पड़ा' नामक मार्केज पर केंद्रित सामग्री महत्वपूर्ण है। चंद्रभान सिंह यादव 'दलित आप बीतियों में हैं दर्द के कई चेहरे' में कई मुद्दों के साथ इस बात की वकालत की है कि 'दलित आत्मकथाओं में घृणा, शोषण, दमन, समानता, अत्याचार से उपजे अनुभवों का अंतहीन सिलसिला है। इन्होंने मुरदहिया तुलसीराम और शिकंजे का दर्द (सुशीला टाकभौरे) के बहाने इकहरे वर्णन के आरोपों को भी खारिज कर दिया है। सूरजपाल चौहान के 'संत्पत' और 'तिरकृस्त' के माध्यम से यह कहने का प्रयास किया है कि दलित स्त्रियां खुद भी भेदभाव और जातिवाद से मुक्त नहीं हैं। इस प्रकार से यह अंक अपने पुराने तेवर के साथ खड़ा दिखाई पड़ता है।

समसामयिक सृजन

भूमंडलीकरण और उदारीकरण के दौर में स्थानीयता को महत्व देना अपने आप में एक चुनौती भरा कार्य है। आज संचार कांति ने कुछ भी स्थानीय रहने नहीं दिया। ऐसे समय में महेंद्र प्रजापति के संपादकत्व में इस पत्रिका का हिंदी के लोक पर

केंद्रित संयुक्तांक एक आश्चर्यजनक हस्तक्षेप है। इसमें उन्होंने कुछ प्रयोग भी किए हैं मसलन लगभग चार सौ पृष्ठों की पत्रिका को कई खंडों में विभाजित किया है। खंड का नामकरण भी लेखकों के उम्र के अनुसार किया है। वरिष्ठ चिंतकों के चिंतन समूह को बरगद खंड में, वरिष्ठ लोक चिंतकों के साक्षात्कार को संवाद खंड और रचनाकारों के नई-नई पौध के विचारों को अमोला खंड में रखा है। लोक के श्रेष्ठ रचनाकार को समर्पित एक खंड भिखारी ठाकुर स्मृति खंड है। इसमें जीवन सिंह ने राजस्थानी के प्रसिद्ध ख्याल परंपरा के रचनाकार अली बख्शी पर अपना आलेख केंद्रित किया है। उसी आलेख में 'ख्याल' शब्द की ऐतिहासिकता पर भी चर्चा की गई है और इसे दो तीन सदी पुराना बताया गया है। इनके लेख में राजस्थान के ख्याली का मुम्मल लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है।

लोक कवि इसुरी पर श्यामसुंदर दूबे का आलेख 'लोक कवि इसुरी का काव्य: लोक भक्ति की झलक' पठनीय है। इसुरी का समय रीतिकाल के अवसान एवं आधुनिक काल के प्रारंभ का है। इस संकमण काल में इसुरी की उपस्थिति एक सेतु का कार्य करती है। इसुरी के यहां रीतिकालीन पर्यावरण तुलनात्मक रूप से कम है। वह अपने को मध्यकाल के ज्यादा नजदीक देखने की बात करते हैं और उनका कहना है कि उन्हें राधा की ही शक्ति परिचालित करती है। इसुरी के काव्य का अवगाहन करने पर लोक स्वभावी भक्ति के अनेक प्रसंग इसुरी की कविता में मिल ही जाते हैं। शेफाली चतुर्वेदी का आलेख 'लोक साहित्य, संस्कृति और लोकप्रिय संस्कृति: संबंध एवं विरोध' में अच्छी बहस दिखाई पड़ती है। उनका मानना है कि किसी भी भाषा विशेष के लोक साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की दिशा में कार्य करते समय लोकप्रिय साहित्य की अंतर्विरोधी चेतना से भी रूबरू होना पड़ता है। 'लोक में बाहरमासा: बारहमासा में लोक', 'लोकगीतों में प्रतिरोध' आदि आलेख लोक को अकादमिक बहस में शामिल करते है। अमोला खंड में विभिन्न क्षेत्रों के लोक रस एवं लोक स्वर को वाणी दी गई है। भिखारी ठाकुर स्मृति खंड में 'सामंती समाज, पितृसत्ता और भिखारी ठाकुर' जितेंद्र कुमार यादव का आलेख है। इस आलेख के बहाने सामंती समाज और पितृसत्तात्मक व्यवस्था में सामान्यजन की स्थिति दर्शाने का प्रयास किया गया है। तुलसीराम के मणिकर्णिका पर सत्यकेतु सांकृत का आलेख पठनीय है। लोक हाशिये पर है और उसका साहित्य वाचिक परम्परा में रहने से विस्मृत हो रहा है। उसकी समृद्धि स्मरण कराने का यह प्रयास प्रासंगिक है।

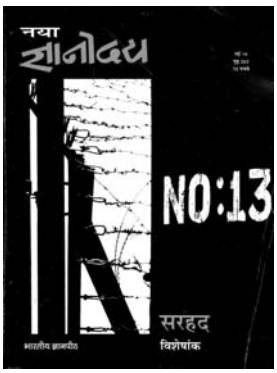

नया ज्ञानोदय

सरहदें देशों को जोड़ती भी हैं और तोड़ती भी हैं। उसे लेकर रचनाओं की दीर्घ परंपरा है। काफी अंतराल के बाद सरहद को साहित्य के सरहद में लाने का प्रयास 'नया ज्ञानोदय' के सरहद विशेषांक ने किया। इस विशेषांक की मांग इतनी बढ़ी कि एक ही महीने में इसकी दो आवृत्ति का प्रकाशन करना पड़ा। इस अंक का प्रारंभ ज्ञानोदय पत्रिका के नवम्बर 1965 युद्ध विशेषांक के लेखा-जोखा से होता है, लक्ष्मीचंद्र जैन की टिप्पणी बड़ी मार्मिक है। 'राष्ट्र युद्ध करते हैं, एक दूसरे को विनष्ट करते हैं, युद्ध से त्रस्त होते हैं, भयग्रस्त होकर शांति वार्ता की ओर बढ़ते हैं। शांति होने भी नहीं पाती कि शक्ति के लिए होड़ शुरू हो जाती है। होड़ में हार जीत की बाजी लगती है। हार-जीत के निर्णय के लिए युद्ध होते हैं। युद्ध होने पर विनाश, त्रास, शांति के लिए विकलता, शांति होने पर शक्ति की परीक्षा... फिर वही क्रम प्रारंभ हो जाता है। मानव-जाति की नियति ही ऐसी है। यह टिप्पणी कहीं न कहीं बार-बार हमें शांति के लिए विवश करती है। आजादी के साथ चुनौतियां भी आती हैं। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री द्वारा यह भाषण 14अगस्त1947 को कांस्टीच्युएंट एसेम्बली के समक्ष दिया गया था। उसमें उन्होंने कहा था 'हमने एक मंजिल पूरी की और इसकी खुशियां भी मनायी जा रही हैं, और हमारे दिल में भी खुशी है, किसी कदर गुरूर है और इत्मीनान है।' आगे उन्होंने कहा कि 'आजाद हम हुए लेकिन आजादी के साथ मुसीबतें और बोझे आते हैं।' यह भाषण बहुत ही रोचक है और कहीं न कहीं आज की परिस्थिति से तुलनीय भी। यह उनकी विजय है। प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा 16 दिसंबर 1971 को दिया गया राष्ट्र के नाम संदेश है। इसी अंक में 'राष्ट्र की सुरक्षा: एक मिशन' महामहिम ए.पी.जे. अब्दुल कलाम द्वारा 19 मई 2008 को दिया गया भाषण भी शामिल है। जिसमें वह कहते हैं कि दूसरे के कंधे पर बंदूक रखकर लड़े जा रहे युद्ध या आतंक बाद का निरंतर बढ़ता खतरा राष्ट्र जीवन के लिए एक सिरदर्द बन चुका है। यह युद्ध का नया चेहरा बन गया है। 2020 तक भारत के लिए एक 10 सूत्रीय फार्मूला भी पेश किया है। 'यह सरहद किसकी है' में कुमार अनुपम यूक्लिड के कथन को याद करते हैं जिसमें उन्होंने कहा है 'किसी की

अत्यंतता या पराकाष्ठा अथवा चरम ही सरहद है'। इसी आलेख में यह बताया गया है कि 'सरहदें या तो खींची जाती हैं या उसका अतिव्यापन करके बढ़ाया जाता है और वैभव, क्षमता तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि की जाती है या उसका प्रदर्शन किया जाता है। लगभग दो सौ साठ पृष्ठों की इस पत्रिका में सरहद और उससे जुड़ी इतनी वैविध्यपूर्ण सामग्री परोसने के लिए इसके संपादक बधाई के हकदार हैं। यह एक संग्रहणीय अंक है।

संदर्भित पत्रिकाएं

1.समास-9 (फरवरी 2014) संपादक: उदयन वाजपेयी, प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, मूल्य: ₹60

2.समीक्षा (अप्रैल-जून 2014), संपादक: सत्यकाम, प्रकाशक: सामयिक प्रकाशन, 3320-21, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, मूल्य: ₹30

3.साखी-24 (मार्च 2014) संपादक:सदानंद साही, एच-1/2 नरिया(बीएचयू), वाराणसी मूल्य: ₹80

4.अभिनव कदम अंक-30 (दिसंबर 2013-मई 2014) संपादक: जय प्रकाश धूमकेतु, प्रकाशक: राहुल सांस्कृत्यायन सृजनपीठ, मऊनाथभंजन, मऊ (उ.प्र.) मूल्य : ₹100

5.वागर्थ-227 (जून 2014), संपादक: एकान्त श्रीवास्तव, कुसुम खेमानी प्रकाशक: भारतीय भाषा परिषद, 36-ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता, मूल्य: ₹20

6. हंस (जून 2014) संपादक: संजय सहाय प्रकाशक: अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 2/36 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली मूल्य: ₹30

7. समसामयिक सृजन (जनवरी-जून 2014) (संयुक्तांक) संपादक: महेंद्र प्रजापति, 2567, पंजाबी बस्ती, नजदीक घंटाघर, सब्जीमंडी, दिल्ली, मूल्य: ₹100

8. नया ज्ञानोदय (मई 2014, सरहद विशेषांक) संपादक: लीलाधर मंडलोई, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, पोस्ट बॉक्स-3113, नई दिल्ली, मूल्य: ₹70

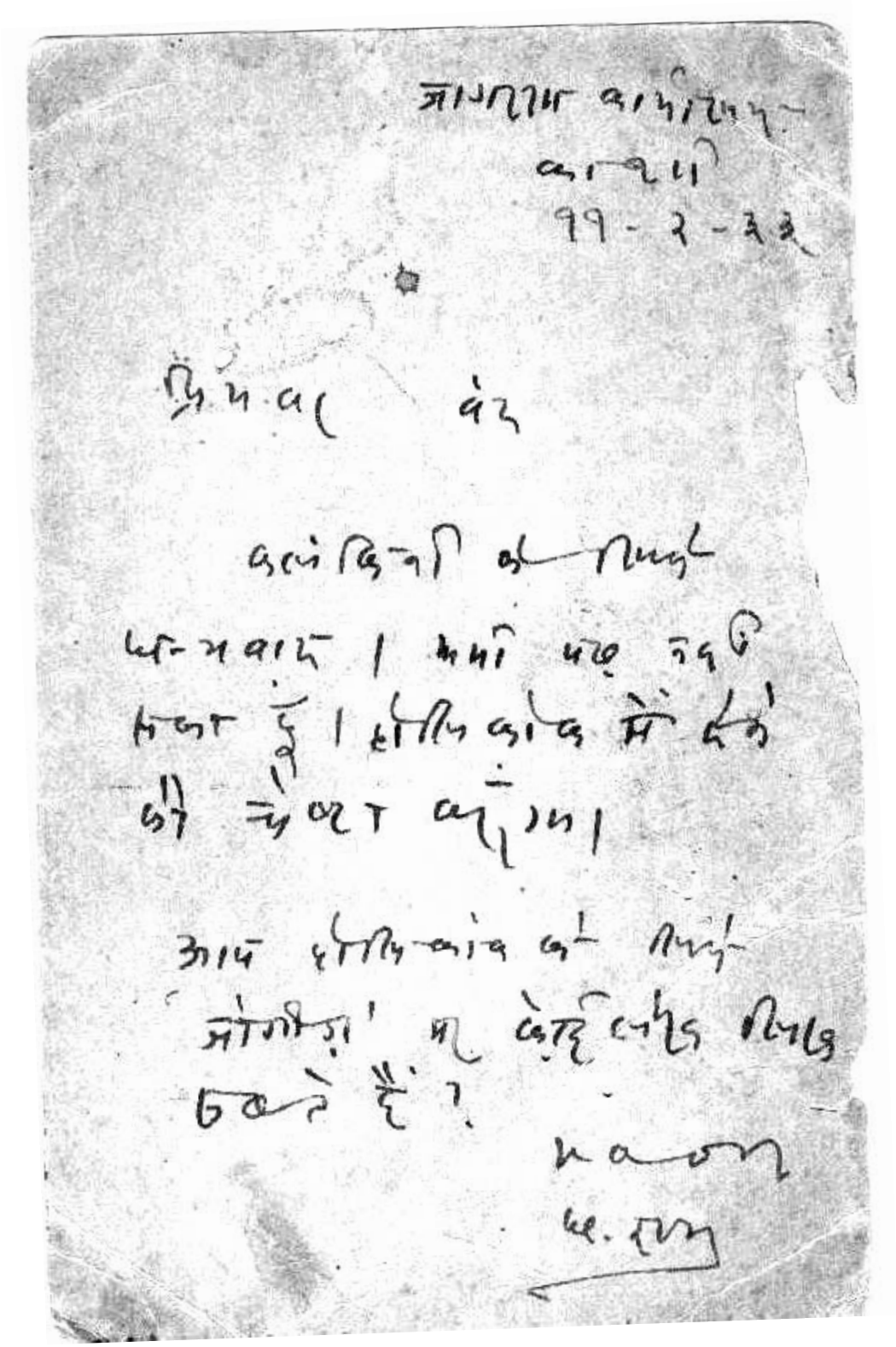

कथा सम्राट प्रेमचंद द्वारा श्री तारकेश्वर प्रसाद को लिखा यह पत्र स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय में संरक्षित है।